सहजानंद शास्त्रमाला

श्रावकषट्कर्मप्रवचन

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/

श्रावकषट्कर्मप्रवचन

अध्यात्म योगी पूज्य गुरुवर
श्रीमनोहर जी वर्णी सहजानन्द जी महाराज

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

Report any errors at vikasnd@gmail.com

१८५ - ए, रणजीत पुरी, सदर मेरठ

(सर्वाधिकार सुरक्षित)
http://www.jainkosh.org

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

(५१)

श्रावकषट्कर्मप्रवचन

(जिसे जबलपुर समाजने नोट कराया था)

लेखकः—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द" महाराज

प्रकाशक—
मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

सन् १६८७

मूल्य 3-50 रु० 4.00

Version 1

आत्मकीर्तन

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी

श्री "मत्सहजानन्द" महाराज द्वारा विरचित

—:❀:—

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ।।टेक।।

१

मैं वह हूं जो हैं भगवान । जो मैं हूं वह हैं भगवान ।।
अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहं रागवितान ।।

२

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ।।

३

सुख-दुख दाता कोई न आन । मोह राग रुष दुखकी खान ।।
निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।

४

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।
राग त्यागि पहुंचूं निजधाम । आकुलता का फिर क्या काम ।।

५

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ।।
दूर हटो परकृत परिणाम । "सहजानन्द" रहूं अभिराम ।।

ॐ नमः सिद्धेभ्य :

श्रावकषट् कर्मप्रवचन

प्रिय सजातीय बन्धुवृन्द ?

जब हम आप सब प्रत्येक अपने चतुष्टयसे ही परिणमते हैं अन्य सब पदार्थोंका हममें अत्यन्ताभाव हैं बाह्य पदार्थोंसे अपना कुछ भी हित नहीं है प्रत्युत वे विकल्पके ही आश्रयभूत होते हैं, जिन विकल्पों से अपना अहित है तब चाहिये तो यह है अविलम्ब पूर्ण सदाचारी निर्ग्रन्थ निष्परिग्रह निरारंभ होकर स्वध्यानमें तल्लीन रहें परन्तु यदि कषाय शान्त नहीं हुई है सद्गृहस्थ होकर न्यायोचित भोगसे तो कषायका वेग दूर कर अन्यायसे दूर रहें। यदि गृहस्थ बनकर भी सद्गृहस्थ नीतिसे न चल सके तब तो अन्य कोई गति नहीं है मनुष्य जन्म व्यर्थ है। एक गृहस्थी ही स्वयं कमजोरी है और फिर मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्य दुरुपासनामें जीवन लगाया तो इसे अध-मता ही समझना चाहिये। सद्गृहस्थकी क्या नीति रहती है जिससे वह अपनेको विनाशसे बचा लेता है उन्हीं नीतियोंकी ओर कुछ दृष्टिपात करना इस प्रकारणका विषय है।

अपने आपमें सर्व विशुद्ध ज्ञानका अवलोकन कर चुकने वाला भव्य गृहस्थ जब व्यवहारमें आता है तब वह सर्व दुखमें अपनी भूल मानता है, हित—मित—प्रिय वचन बोलता है तथा विनय और आन से रहता है ब्रह्मचर्यकी साधना करता है पंचाणुव्रतोंका पालन करता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है तथा सप्त व्यसनका त्यागी होकर जब वह धार्मिक क्रियायोंमें आता है तब वह शुद्ध चैतन्य भावमें उनका सम्पादन करता है। वे धार्मिक क्रियायें ६ प्रकारकी हैं—

देवपूजा गुरूपास्ति, : स्वाध्यायः संयमस्तपः।
दानं चेति गृहस्थानां, षट् कर्मांणि दिने दिने ॥

प्रतिदिन गृहस्थोंके लिये देवपूजा आदि ६ कार्य करना चाहिए। क्योंकि ये कर्तव्य सम्बन्धी अनुराग अपने प्रधान हितलक्ष्यके अविरुद्ध है, अशुभके प्रतिषेधक हैं। आज देवपूजाके बारेमें कहा जायगा। देव कहते हैं—जो अनेक एश्वर्यों सहित है अपने ही खेल या अनुभूतिमें जो रमें। "दीव्यन्तीनि देवः" ऐसी व्युत्पाति की गई है। ऐसे देव हैं अरहन्त सिद्ध। वे अपने ही चैतन्य चिदानन्दमय स्वरूपमें ही रम रम रहे हैं। जिन्होंने कर्म मलीमसको धोकर आत्मिक शुद्धता प्राप्त कर ली है। जो सदा अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप ऐश्वर्यको धारण किये रहते हैं। जो अपनेमें ही रमण करते हैं ऐसे देवता पूजने योग्य होते हैं।

जब प्राणी सांसारिक रागद्वेष, मोह मायासे दुखी हो उठता है तब उन कष्टोंको दूर करनेके लिये वह प्रभुकी शरण जाता है। लोग दुःखको बुरी बात समझते हैं पर दुःख हमारा मित्र और हितकारी है। वह हमें सदा ईश्वरकी शरणमें रखता है। मनुष्य सुखी होने पर ईश्वरको भूल जाता है और दुःखमें उसकी पूजा एवं उपासना करता है एक कविने कहा भी है।

दुखमें सुमरन सब करें, सुख में करैं न कोय।
जो सुखमें सुमरन करें, तो दुःख काहे को होय ॥

मनुष्य देवोपासना उनके प्रेम या उनकी रिश्तेदारीसे नहीं करता अपितु जग जंजालों से दुःखी होने पर, वेदनाको न सह सकने पर

http://www.jainkosh.org

उनसे मुक्ति के लिये प्रभुकी शरण लेता है। वह सम्यग्दृष्टि गृहस्थ प्रभुकी शरणमें जाकर लौकिक सुखोंकी वान्छा नहीं करता उसकी प्रभु चरणों में ही लीनता होती है व वस्तुतः चैतन्यस्वभाव लक्षण पारिणामिकभावकी दृष्टि होती है। ऐसा गृहस्थ देवोपासना अपनी रूचि प्रेम और लगनसे करता है, वस्तुतः वह देवपूजा नहीं कर रहा है क्योंकि कोई अपनेसे भिन्न किसी भी पर पदार्थ का क्या कर सकता है, वस्तु तो अपने आपमें परिणामित होती है इस वस्तुत्वन्याय से पूजक मात्र अपने परिणामको कर रहा है चाहे इसे पूजा कर रहा है कह लीजिये हां इस परिणाम ज्ञेयरुपके लिये निमित्त प्रभु है परन्तु प्रभुकी ओरसे कोई हरकत हो रही हो इस तरह निमित्त नहीं है, उसका स्वरुप यह जान रहा है इतना ही उपचार सम्बन्ध कहा जाता है। वस्तुतः उसका जानना भी नहीं कह सकते हैं वस्तुत्व-न्यायसे। लेकिन यथार्थ तत्वको समझानेकेलिये साक्षात् कोई शब्द है ही नहीं इस कारण वस्तु के स्वतन्त्र स्वरूपको जानकर प्रत्येक भाषाका अर्थ यथार्थकी ओर ले जाना चाहिये और यथार्थतासे जो कुछ है वह समझ लेना चाहिये। देवपूजाको गृहस्थोंके षट कर्मों में सर्व प्रथम इसलिये गिनाया क्योंकि यह सब कामों में प्रधान और आवश्यक तथा महत्वपूर्ण है। जो ईश्वरकी सत्ता स्वीकार नहीं करता, वह देवोपासनामें अपना समय नहीं देता, प्रभुसे लगन नहीं लगाता। वह गृहस्थ नहीं, जो बीतरागी प्रभुकी-शांत सौम्य विरक्ति पूर्ण अहिंसा एवं दया जिसकी मुद्रामें झलक रही है—उपासना नहीं करता। देवोपासनासे हृदयमें शांति, ज्ञान विरक्ति एवं सुखका संचार होता है।

पूजा के लिये पूजक तिलक आदि लगता है उससे उसके आस्तिक होने का पता चलता है। लोगोंके उसके प्रति निर्मल भाव

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उत्पन्न होते हैं और उसका आदर करते हैं । जिस देवोपासनाके चिन्हका इतना महत्व है फिर उसकी पूजनके महत्वका क्या कहना हैं ? जो भव्य जीव देवपूजा करता है वह अन्य गृहस्थोंके लिये आदर्श उपस्थित करता है और उन्हें सन्मार्ग पर चलाता है । जिस प्रकार जब जीव गरीबीसे दुःखी होता है तब वह धनी को उपासना करता है । उसे ही अपना देव समझता है और वैसे ही बनने अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करता है । उसके द्वारा बताये हुये मार्ग पर चलकर निर्धन धनी हो सकता है । उसी प्रकार जिस देव की हम उपासना करते हैं—हमें वैसे ही होनेका प्रयत्न करना चाहिये और उनके निर्देशित मार्गका अवलम्बन करना चाहिए । जो ऐसे ज्ञान आनन्दके स्वाभाविक विकासके लिये धर्मसेवन करते हुये जब विषय कषायोंसे अलग होजाते हैं तब वे जीव ज्ञानानन्द के उत्कृष्ट धनी, शुद्ध चैतन्यमय परिणति स्वरूप, निर्लिप्ति निर्विकार स्वयं की परिणति में लीन ऐसे अरहन्त सिद्ध देवकी शरणमें पहुंचते हैं, उनकी उपासना करते हैं, उनके समान होनेका प्रयत्न करते हैं और उनके बताये मार्ग पर चलते है । ऐसे गृहस्थ ही वास्तव में गृहस्थ कहे जाते हैं ।

देखो भैया जब आत्माका ध्रुव स्वभाव प्रतिभास में आजाता है- यह स्वभाव ही मैं हूँ ऐसी दृढ़ प्रतीति हो जाती है, अध्रुव शरीरादि कोई मेरे स्वभाव नहीं, मैं नहीं ऐसी निष्कम्प श्रद्धा रहती है उसको यदि अनुराग भी पैदा हो तो ऐसे ही ज्ञानमें लगे हुये या पूर्ण हुए आत्माकी ओर ही लक्ष्य जायगा तो लटोरे खचोरे की तरफ कैसे जायगा ? प्रभुके स्वरूप का जब वह स्मरण करता है तब वह अपना ध्रुव स्वभाव ही तो स्मरणमें लाता है, प्रभु कैसे निर्मल हुए उस मार्गसे चलनेकी ही तो प्रेरणा पाता है, भगवन्त सहज अनन्तसुखी

हैं इस स्वरूपके बोधमें अपने सहज आनन्द को ही तो प्रकट करने का पात्र होता है । यह देवपूजाका कर्तव्य सन्मार्गकी अनुपम प्रेरणा है उनके स्वरूपके स्मरणमें अपनी शक्तिका परिज्ञान करके अनुपम भक्तिसे ओत प्रोत हो जाना है ।

दुनियांके अन्य समस्त कार्य मनुष्यको अंधेरेमें ले जाते हैं स्वकीय उपयोग आत्मामें लगाना, अपनी अनन्त शक्तियों को आत्मामें ही खोजना और उसमें लीन रहना यही वास्तविक देवपूजा है । वास्तवमें न कोई देवपूजा करता है और न कर सकता है । किसी मूर्ति आदि को पूजना देवपूजा नहीं हैं । साक्षात् अरहंत शरीरको देखकर भी पूजना देवपूजा नहीं हैं किन्तु सब देवताओंसे भिन्न अपने ध्रुव चैतन्यरूप आत्मतत्वका ध्यान करना व इसके प्रयोजनके अर्थ शुद्ध चेतन परम आत्माके स्वरूपकी भक्ति ही पूजा या उपासना हैं । भगवानकी हम क्या पूजा करेंगे, वहां भी हम अपने भावोंकी जो शुद्धात्माके ज्ञेयाकारसे परिणत होते हैं अनुभूति करते हैं । भगवानके लिये हम क्या करेंगे और किसके द्वारा कर सकेंगे हमारे आत्माका परिणमन परमात्मामें क्यों होगा—आत्मा परमात्माका क्या करेगा । आत्माका परिणमन स्वयं में होता है परमें परिणमनके लिये वह असमर्थ हैं । भगवानकी शान्तमुख मुद्राका भाव आत्माके शुद्धिकरणमें निमित्तकारण हैं । देव तीन प्रकारके होते है शब्ददेव, अर्थदेव और ज्ञानदेव । शब्दकी हम क्या पूजा करें — वह तो अचेतन हैं । अर्थदेवकी भी हम पूजा क्या करें । वे हमसे पृथकसत्ताक हैं हम अपने को ही कर सकते हैं । ज्ञानदेव चेतन है और गृहस्थ उसकी पूजा करता है । पर ज्ञान देवकी पूजा वह तभी कर सकता है जब अर्थदेव की पूजा दृष्टि उसमें निमित्त होती है । ज्ञानदेव हम ही हैं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अर्थात जो अर्थदेव—परमात्मा का ध्यान ज्ञान करने वाला है अर्थात् जिसके ज्ञानका विषय परमात्मा है वह आत्मा ज्ञानदेव है।

प्राणीयोंने भगवानकी पूजाको सुना उनकी पूजा करनेका अनुभव किया पर सदा परिणति उनसे विमुख रखी। इनको जीव संसारके दुःख भोग रहा है प्राणीने भगवानके कभी वचन भी सुने, जाने, उनके दर्शन किये पर उन्हें भक्तिपूर्वक अपने हृदयमें धारण नहीं किया मात्र बाह्य चेष्टा भक्ति नहीं हैं देवपूजन नहीं हैं।

मनुष्योंके मनमें अपने व्यापार और सम्बन्धियोंके प्रति हृदयमें स्थान होता है सांसारिक पदार्थों के लिये उनके चित्त अशान्त रहते हैं। स्वप्न भी लौकिक वस्तुओं के आते हैं पर भगवान की भक्तिमें उनका चित्त नहीं लगता। शास्त्रप्रवचनमें भी उनके लिये नींद आती है और अपनी दुकानके स्वप्न आते हैं। कहते हैं—एक बार एक कपड़ेका व्यापारी शास्त्रसभामें पंडितजी के पीछे बैठा था। उसे नींद आगई और स्वप्न आया कि एक ग्राहक कमीजका कपड़ा माँग रहा है। ग्राहक ६ आने प्रतिगज के दाम दे रहा था सेठजी ८ आने प्रति गजसे कम न कहते थे। कुछ बहस के बाद सेठजी ने पंडितजी का चादर पकड़कर फाड़ते हुए कहा ले. सात आने गजमें लेजा। तो भैया ? धर्म काजमें नींद आती है आलस्य आता है और व्यापारी को सदा चिंता लगी रहती है एक कवि ने भी कहा है:— अशुभ कर्मके उदय से, जिनवाणी न सुहाय। या ऊंघै या लड़पड़े, या उठ घर को जाय॥

सभी प्राणी भक्ति करते हैं। लेकिन कोई किसी की भक्ति करता है तो कोई अन्यकी। जिसके हृदयमें जो बसै उसका वही देवता हैं—वह उसकी पूजा करता है—चाहे वह किसीकी मूर्ति हो, चाहे वह पुत्र हो या पिता हो। लोग भगवानके दर्शन करने जाते हैं पर

http://www.jainkosh.org

उन्हें अपने जूतोंकी चिन्ता बनी रहती है। यदि किसीका पुत्र बीमार हो जाता है तो वह उसकी रक्षाके लिये सब कुछ अर्पण करनेको तैयार रहता है—तो वही उसका देवता है और वह उसका पुजारी मनुष्यको पूजा भगवानके लिये क्या! स्व परमें उनके प्रचारके लिये है। तथा मार्गगामी साधुकी पूजा करने के लिये है। उनकी भक्तिमें तन्मय होकर मनुष्यको सब धन ऐश्वर्य त्याग देना चाहिये यह देवपजाको सफल बनानेका साधन है। पूजाकी प्रस्तावनामें हम पढ़ते हैं :—

अस्मिन् ज्वलद्विमलकेवलबोधवह्नौ,
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि॥

अर्थात् इस विमल केवल ज्ञानरूप अग्निमें समग्रपुण्यको एक मन होकर मैं हवन करता हूँ। कितनी भावों की निर्मलता और श्रेष्ठता इस पद्यमें झलक रही हैं। भव्य सम्यग्दृष्टि अन्तर—आत्मा स्वरूप से परिचित है, और वीतराग विज्ञानसे सब विद्रोह नष्ट करना चाहता है। जिसका चित्त देवोंको निजमें धारण रूपसे ही लग रहा है ऐसा पुजारी देवपूजन करता है। प्रातः उठकर ही नित्य क्रियायों से निवृत होकर देवपूजन करना चाहिए। देव दर्शन, देव स्मरण या देवपूजन सभी एक ही बात है। श्रावकके ६ कर्मोंमें देवपूजन प्रधान एवं महत्त्वपूर्ण होनेसे प्रथम ही कहा है। फिर गुरूपासना कर्म बतलाया है। इस प्रकार ठीक प्रकारसे गृहस्थके कामों का विवेचन किया है। अतः देवपूजनोपरान्त गुरूकी उपासना करनी चाहिए। अरहन्त सिद्धकी भक्तिको निमित्त पाकर अपने वास्तविक सहजानन्द मय आत्माकी ही पूजा करनी चाहिए। ज्ञानी पुरुषको अपने आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है अज्ञानीको इसका ज्ञान नहीं होता। संतोष सुख—शान्ति मिलेगी तो अपनेमें ही, सारतत्त्व मिलेगा तो अपनेमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ही और यदि आनन्द मिलेगा तो अपनेमें ही । अतः अपनेमें ही सहजानन्दको खोजो ? उपयोग बाह्य पदार्थमें जब जाता है तब उससे कहो—ऐ उपयोग ? क्या अब तक इन पदार्थोंमें लगे हुये तूने कुछ लाभ पाया है—क्या सुखी रहा है ? ऐ आशा ! तू अब तक भी तृप्त न हो पाई ? यदि तृप्त हो गई हो । तो अब यहाँ से विदा हो जाओ और यदि तृप्त न हुई तो भी अब यहां से बिदा लो । क्योंकि तुम्हारा काम तो होना ही नहीं पर पदार्थोंमें उपयोगको भटकाते अब बहुत समय व्यतीत हो गया है अब अपनी अन्तर आत्माको देखो । परभाव, पर दशाऐं सब ही स्वप्न है ।

संसारकी धन सम्पत्ति किसीके साथ नहीं गई । यहां किसीका कुछ नहीं है । कहा भी है "मूँदहुं आँख कछु नाहीं ।" स्वप्न है, माया मोह है । आज तक जीवको अन्य कुछ शरण न हुआ, परमें आस्था रखकर यों ही वृथ अपना समय बिताया । अब अपने आपमें लीन होना चाहिए ।

"संयुक्तानां वियोगोहिभविता हि नियोगतः" अर्थात जिनका संयोग हुआ है उनका वियोग नियमसे ही होगा परन्तु जिनका वियोग हुआ है उनका संयोग होना अनिवार्य नहीं । उनका संयोग हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता । यदि इस वियोगसे होने वाले दुखसे बचाना है तो इष्ट संयोग होनेसे सुख या हर्ष नहीं मानना चाहिये ऐसी अवस्थामें धैर्य चाहिये । "सुखमें होकर मग्न न फूलै दुखमें कभी न घबरावै ।"

बम्बईमें एक स्त्रीप्रेमी सेठ था । स्त्रीकी खूब सेवा करता था । जब स्त्री मन्दिर जाये तब वह उसपर छतरी लगाकर चलता था । स्त्रीने सेठको बहुत समझाया कि इतना प्रेम नहीं करना चाहिए नहीं तो मेरे मरनेपर तुम पागल हो जाओगे । ऐसा ही हुआ जब वह मरी

तो सेठ पागल होगया । तो भैया ? सुखी होनेके लिये पदार्थोंसे प्रेम नहीं करना चाहिए नहीं तो उनके वियोगमें फिर दुख होता है । संयोग होने वालोंका वियोग तो अवश्यभावी है—इसे यन्त्र मन्त्र कुछ भी नहीं रोक सकते । अतः बाह्य पदार्थोंका विश्वास छोड़कर आत्मदेवकी पूजामें लगो और अपनी पूजा करते हुये आपत्तिका स्वागत करनेको तैयार रहो ।

दुःख आने पर अपने आपमें क्षोभ न आने देना चाहिये सदा शांत रहनेका प्रयत्न करना चाहिये और अपने आचार या व्यवहार द्वारा दूसरोंके समक्ष अपने आदर्श उदाहरण रखना चाहिये इससे दूसरे लोग भी देखकर प्रभावित होंगे, अपना हित करेंगे दूसरोंके हितकी बात सोचना, व दूसरोंकी सेवाका कार्य जिसमें किया जाय उसे कहते हैं सेवाश्रम । ऐसा ही सेवाश्रम हमें अपना मन बनाना चाहिए । प्रत्येक व्यक्तिकी बातका उत्तर हमें शांतिसे देना चाहिये जो उफनते दूधमें शीतल जलका काम करे । अपने वचनोंसे ही व्यक्ति प्रेमी मित्र और शत्रु हो जाता है ।

देवपूजनका यही प्रयोजन है कि जैसे देव हैं वैसे ही हम बने, जो कार्य उन्होंने किये वे ही कार्य हम करें । उन्होंने कषायोंका दमन किया, यही हम करें, अपने कुटुम्बको भी ऐसा ही बनाये, क्रोधीको प्रेमसे वशमें करे और देव मार्ग पर चलें यही देव पूजाका प्रयोजन है । लोग क्रोधसे नहीं समझते प्रेमसे समझते हैं और बसमें होते हैं । वकील भी मुदई मुद्दालयको क्रोधित करता है जिससे वह अपनेको भूलकर ठीक ठीक अपनी पुष्टी नहीं कर सकता । प्रतिपल प्रेमके वचन कहना चाहिये चाहे कोई उन्हें माने या न माने । क्षोभ भी न करना चाहिए । क्षुब्ध होनेसे न स्वयंको और न दूसरोंको ही राह मिलेगी । हमें सदा प्राणियोंमें मित्रताके भाव रखना चाहिए, गुणियों

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को देखकर प्रफुरित होना चाहिए, दुखी जीवोंको देखकर उनपर दया और अनुकम्पाके भाव होना चाहिए, यहां तक कि विपरीत स्वभाव वाले पुरुषोंमें हमें मध्यस्थता रखना चाहिये—ऐसी ही प्रवृति होनेकी भावना करनी चाहिये ऐसा करते हुये गृहस्थके लिये कषायोंको मन्द करना चाहिए। कोई बापकी पूजा तो करे, पर उसकी बात न माने यह भी क्या पूजा है! वैसे ही भगवानकी पूजा तो करो पर उनके उपदेश न मानो यह उनकी पूजा नहीं है। सप्त व्यसनका त्याग करना, पंचअणुव्रतोंका पालन करना यही उनकी विनय है। जैसा प्रभुका स्वरूप है वैसे ही हमारा है तब चैतन्य प्रभु को बिगड़ने नहीं देना अपनी विनय है और यही परमात्माकी विनय है प्रभुकी आज्ञाका पालक बनना सबसे बड़ी विनय है। प्रभुकी आज्ञा है रागद्वेषका सर्वथा त्याग करो यह त्याग स्वभाव दृष्टिमें सहज ही हो जाता है। प्रभुका उपदेश है कि ऐसे विराग बनो ऐसे स्वस्थ होओ कि प्रभुको भूल जावो। समस्त संकल्प विकल्पोंका परित्याग हो करके आत्मा निर्विकल्प अनुभवमें रहे यह अद्वैत विनय है, सर्वोत्कृष्ट विनय है।

मन्दिरमें आकर तो आलोचना पाठ पढ़ा और सब कहा कि हे भगवान मैंने ऐसे ऐसे पाप किये हैं तथा "आत्माके अहित विषय कषाय इनमें मेरी परिणति न जाय" आदि भी पढ़ा लेकिन बाहर आते ही दीनों और भिखारियोंको बुरा भला कहे, अरे तुझपर भगवानने भी दया नहीं की मैं तुझपर दया करके भगवानका अपराधी नहीं बनना चाहता आदि मायाचार करे। ऐसे व्यक्ति देव पूजक नहीं हैं। निश्चयसे अपने आपमें विराजमान सच्चिदानन्द स्वयंके सहज स्वभावकी पूजा करना चाहिए। अपने चित्स्वभावीके सहजतत्त्वका मार्ग विचारो अवलोकन करो, उसमें लीन रहो, अपनी शुद्ध दृष्टि

http://www.jainkosh.org

बनाओ, धर्म पालो और सन्मार्गपर चलो तथा चलाओ जो शुद्ध पर्याय रूप भगवानको देखते हैं वे निमित्तका अवलम्बन कर पश्चात् निरालम्ब होकर सहज स्वभावकी प्राप्ति सहजमें कर सकते हैं। यदि कोई भगवानको न देखे, समोशरणकी रचनाका मनमें ध्यान न लावे, और वह अपने चित् स्वभावपर दृष्टि रखता है तो उसे वही फल होगा जो पहिले व्यक्तिको होता है। आत्माकी पूजा निश्चय पूजा है। जंगलमें किस देवकी पूजा की जाय! आत्माके चैतन्यस्वभाव की। भ्रष्टको धर्मके मार्गपर चलानेके लिये, आत्माका ध्यान करने के लिये प्राक् पदवीमें मूर्तिका अवलम्बन करना चाहिए और विचारना चाहिए—हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आतम राम॥

पर्याय क्षणिक है परन्तु द्रव्य नित्य है। पर्याय आती है और चली जाती है। जैसे तेलका बिन्दु जलके ऊपर ही फैलकर नष्ट हो जाता है। इन पर्यायोंने ही तो हे भगवान आपमें और मुझमें अन्तर डाला है। "इनने तुम मुझ भाँहि हे प्रभु अन्तर पारयो।" ऐसे बाह्य रागद्वेषादि की क्षणिक पर्यायोंके बिना अपनेमें अपनेको देखना, निश्चय देवपूजा है। देवकी पूजा करना, सिद्धयन्त्र जिसकी स्थापना की है, की पूजा करना एवं स्थापित मूर्तिको पूजना उसमें आस्था रखना सभी देवपूजामें शामिल है। परन्तु लक्ष्य स्वभावका आजावे तो वास्तविक पूजा है। इन कार्योंसे जिसने अपनी आत्माको पुष्ट किया है ऐसा गृहस्थ देवपूजा करता है।

देवपूजा अपनी उन्नतिके लिये प्राथमिक विद्युत करेन्ट है हम सबको अपने परम आनन्दके अर्थ पूजा अवश्य करनी चाहिए। देवके दर्शनसे हमें निजस्वभावका स्मरण हो आता है।

आत्मा अनन्त अक्षय गुणोंका भण्डार है, आत्मामें अनन्त सुख

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान एवं अनन्तवीर्य स्वभावरूपसे विद्यमान हैं। वस्तु सामान्य विशेषात्मक होती है:—(१) सामान्य अंश—जो कि त्रैकालिक तत्त्व कहा गया है। और दूसरा विशेष अंश जो एक व्यक्ति की दृष्टिसे कहा गया है। जिनके विद्यमान गुणोंका जो अक्षय रूप है वह सामान्य है तथा उस चित्स्वभाव की जो वृति है वह विशेष है। सदा चित्स्वभाव पर दृष्टि रखनेसे कर्म झड़ते हैं उनकी निर्जरा होती है। जो व्यक्ति अपनी भावनाओं पर नियन्त्रण नहीं रख सकते उनके चित्तकी स्थिरताके लिये लौकिक निमित्तोंका आश्रय लिया जाता है। अभिलाषा संघ आत्माओंको समाधि मरण करनेकी, समतासुधापान करनेकी आत्मानन्दका अनुभव करने- चित्स्वभावरूप चैतन्य गुणमें दृष्टि लगाने एवं उसमें लीन होनेकी होना ही चाहिये। जो उन विकल्प पर्याय विषयक आत्मामें उत्पन्न हुआ करते हैं उनको मिटानेका यही उपाय है कि आत्मामें लीन होओ। देखो हमने अनादि काल से कभी अपने अक्षय स्वभाव पर दृष्टिपात ही नहीं किया, उन अन्य पदार्थोंको पाग बनाने की दृष्टि सदा बनी रही—यही कारण है कि हम चार गतियोंमें कर्म खिलाड़ीके सुख दुख रूप पदोंकी ठोकरे खाते फिर रहे हैं। जैसे सेन्टरसे फेरी गई फुटबाल यहां वहां ठोकरे खाती फिरती है और कहीं ठिकाना उसका नहीं रहता उसी प्रकार यह आत्मा सेन्टर अर्थात् अपनी आत्माके स्वभावको छोड़कर यहां वहां सुख दुख भोगता फिरता है। अपने उपयोगको हम ऐसी जगहमें ले जायें जहां पर कोई परपदार्थोंका आलम्बन ही न रहे और इस जगह पहुंच जाना जहां ज्ञानदर्शन सर्वदा से विद्यमान है वही आत्माका निज अनन्त अक्षय स्वरूप है। उस स्वरूप का स्मरण प्रभु के दर्शन से शीघ्र हो आता है। आत्मा का निरक्षेप स्वभाव चैतन्य है उस चैतन्य को यद्यपि हम पर्याय बिना कभी नहीं पाते हैं तथापि

हम परमपारिणामिक भावके सम्बन्ध में निरपेक्ष स्वभावकी ओर झुककर जानना चाहते हैं तब हमें उस स्वभावके विरुद्ध पूर्ण विकास के स्वरूपागम से अच्छी सहायता मिलती है परन्तु भैया सहायता तो जानने में मिलती है परन्तु उसका भी विकल्प टूटकर स्वभाव जानने में आता है। यह अविरुद्ध पूर्ण विकास ही तो देव हैं। देवके परिज्ञान में भी हमें पहुंचना हैं परम पारिणामिकभाव के उपयोगमें।

देखिये! यह एक उँगली है और आपकी यह स्पष्ट दिख रही है। अभी यह सीधी है और अब वह टेढ़ी है। पर जो सीधी है वह उँगली है यदि हम ऐसा कहें तो टेढ़ी अवस्था या पर्याय भी तो उँगली है और यदि जो टेढ़ी है वह उँगली है तो सीधी पर्याय वाली क्या है? दोनों अवस्थाओं या पर्यायों में उँगली है और दोनों पर्यायें उँगली की हैं। हमें इन पर्यायों को छोड़कर एक वह चीज जो दोनों में विद्यमान है जानना समझना और मनन करना चाहिए। वह आंखों से दिखती नहीं। वैसे ही अपनी अनेक पर्यायों को छोड़कर जो हर एक में एक स्थिर रूप से है उस आत्माकी उपासना करना चाहिए। वह देखी नहीं जा सकती। हां वह जानी जा सकती है।

आत्मा नित्य ध्रुव निश्चल एवं स्थिर है उसकी विभिन्न गतियों में विभिन्न पर्यायें होती हैं। कभी वह मनुष्य की, बालक की वृद्ध या युवक की पर्याय धारण करता है और कभी नारकी, कभी पशु एवं कभी देवकी पर्यायें धारण करता है। उन सभी अवस्थाओं में, पर्यायों में आत्मा एक ही रहता है—वह एक, जो पहिले था। आत्मा कभी नष्ट नहीं होता। उस एक पर दृष्टि डालो जो सबमें विद्यमान हैं, उसकी अनेक पर्यायोंपर दृष्टि मत डालो। उस एक पर दृष्टि डालने से आत्मा के अक्षय स्वरूप का बोध होता है। जिसको अनुभव होने पर यह पता पड़ जाता हैं कि देव इससे भी अनन्त गुणे सुखी हैं। वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

एक सबसे भिन्न हैं तथा अपने आपमें लीन हैं। पदार्थ ज्ञेय है और आत्मा है ज्ञायक, बस यहीं तक आत्मा व अन्य पदार्थका सम्बन्ध है। मैंने पुस्तक जानी परन्तु मेरी और पुस्तक का कोई सम्बन्ध नहीं है और न वह मेरी है। ऐसा निश्चय करना ही सत्य श्रद्धा है, यही श्रद्धा गृहस्थी की उन्नति के लिये आवश्यक है। आपका कोई पुत्र नहीं—वह भिन्न है—आप भी भिन्न हैं वह स्वयं में अभिन्न है पर—अन्य से भिन्न है, आप स्वयं अभिन्न हैं पर—अन्य से भिन्न हैं। इस श्रद्धामें पुत्र आदि के प्रतिकूल होने पर विषाद न होगा। यह सब बात देव-स्वरूप की भांति निजस्वभाव के दर्शन के अभ्यास से सफलता का रूप धारण कर कर लेता है।

हमारे संस्कार परपदार्थ को जानने देखने के अनादि से चल रहे हैं अर्थात् वस्तुतः तो परको जानते देखते ही नहीं किन्तु परको विषय बनाकर अपने विकल्प करने के संस्कार रहे हैं सो इस कारण कदाचित् निज ध्रुव मोह माया में फंसे इस जीव को अपने गुणों तक पहुंचाने का उपाय क्या है? निज अक्षय गुणोंसे अभिन्न तथा अन्य पदार्थों से भिन्न अक्षय स्वरूपी आत्मापर दृष्टि रखना ही निज गुणों तक पहुंचने का साधन है, उपाय है। यदि हमें अपने घर पहुंचना है तो जैसे अन्य घरों को छोड़ना आवश्यक है तभी हम अपने घर पहुंच सकते हैं। उसी प्रकार जब हम अन्य पदार्थोंको छोड़ेंगें तभी अपनी आत्मा में लीन और स्थिर हो जायेंगे। अतः हमें ये सुख दुख रूप भाव, जो कि आत्मा से भिन्न है, छोड़ना चाहिये और अपने में अभिन्न सम्यक्त्व गुणों में उपयोग लगाना चाहिये। निर्मलोपयोगी प्रभु के ध्यान से यह सब खबर हो जाती है हर प्रकार के व्यवहार में हमारा उद्देश्य आत्मा और परपदार्थों से भिन्न एवं अभिन्न का ध्यान रखना चाहिए जैसे मैं खाता हूं। उस व्यवहारमें मैं शरीर से भिन्न हूं, खाने

http://www.jainkosh.org

रूप क्रिया भी मेरी नहीं है आदि विचारना। अनेक विकल्पों से मैं वस्तुतः भिन्न हूं। ये दुःख और आपत्ति के कारण हैं इन्हें तो मुझे छोड़ना। अपने गुणों से मैं अभिन्न हूं इन गुणों के द्वारा निज भगवान को भक्ति करना चाहिये ऐसी भक्ति से कर्म दहते हैं।

जीवको सबसे बड़ी बाधा यह है कि यह राग में लगा है। अरे जीवको कठिनाईयां क्या करेंगी? लेकिन सभी लोग यही कहते हैं कि क्या करें हमें तो बड़ी कठिनाईयां रास्ते में आती हैं। सम्यक्-दृष्टि जीवको कोई कठिनाई नहीं क्योंकि वे इनसे बचे रहते हैं। लोग पर पदार्थोंके सयोग के आधीन होकर अपनी दृष्टि बाह्यपदार्थोंमें लगाये रहते हैं—इसी कारण तो उन्हें दुख होता है। यदि हम उपयोग अपनी आत्मामें लगायें स्वगुणों में लीन रहें परसे स्वयं को भिन्न समझें तो हम सुखी रह सकते हैं। हमें सारा उपाय प्रभुके स्वरूप के ध्यान से उग जाता है। हमारी आदत शुरु से दूसरों की मार्गणा की है सो हम परमात्माके स्वरूप की मार्गणा सी करने लग जावें। एक राजने दूसरे पर चढ़ाई की और दूसरा राजा पराजित हो गया। जीत गये राजा ने पराजित राजाके सब घरवालों को मौत के घाट उतार ही दिया था। एक उसीके घर का व्यक्ति श्मसान में धूनि रमाये बैठा रहता था वह बचा। पहिले ऐसा होता था कि जो राजा हार जाता था उसका राज्य सिंहासन का उत्तराधिकार उसी को या घरवाले को दिया जाता था। ढूंढ़ता ढूंढ़ता राजा उस गृहमुक्त के पास पहुंचा और कहा। राज्य सिंहासन खाली है तुम्हारा राज्य तिलक हम कर देंगे और भी जो कहोगे सो हम देंगे। साधुने कहा जो हम मागेंगे सो दोगे? राजा बोला हां जो तुम मांगोगे सो हम देंगे और साधु मांगने लगा। मुझे ऐसा जन्म दो जिसमें कभी मृत्यु न हो। ऐसा सुख दो जिसमें दुख न हो। राजा दो प्रश्न सुनकर आश्चर्य में पड़ गया। तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भैया ! सुख बड़ी चीज है और वह आत्मा में खोजने से ही मिल सकता है। और वह जीवन भी इसी आत्मा में मिलेगा जो मृत्यु से रहित है। जो चीज उसने मांगी यह बात तो प्रभुके पास ही है।

देखो भैया ! प्रत्येक मनुष्य के मन में कुछ न कुछ बना रहता है दृष्टि का विषय केवल निजस्वभाव ही रहे यह बात आजकल असंभव तो नहीं किन्तु व दुर्लभ जरुर है किसी के होती है तो उनके भी अधिक समय स्थिर नहीं रहती तब कुछ न कुछ ज्ञेय बना ही रहता है उपयोग में कुछ न कुछ पर द्रव्य बना रह रहा है। अन्य जनोंकी तो यह साधारण बात है। तब हमें बतावो कि उपयोग में जड़ पदार्थ धन धान्य को बसाया तो फूल में आखिर क्या हाथ आवेगा ? भिन्न परिवार का भी ध्यान करते रहें तो भी आत्मा को लाभ क्या होगा ? विकल्प फलके और कर्मबध तथा संसार की वृद्धि। भैया यदि पर कुछ बसाना ही पड़े तो बसावो वीतराग सर्वज्ञ स्वरूप को करो परमात्मा की भक्तिका। जिनके हृदयमें परमात्मस्वरूप नहीं बसा उनका जन्म व्यर्थ है। जिनको कुछ टंटा ही नहीं लगा वे तो निरन्तर परमात्मा को ही भजो, व शेष सभी भाई कुछ भी करना पड़े चित्तसे परमात्माको न हटाओ, देवभक्ति का संस्कार बनाये रहो। जब तक अद्वैतभक्तिका संस्कार बनाये रहो। जब तक अद्वैतभक्ति न हो। पर के अन्य विचारमें स्वभावकी क्षति है, परमात्माके विचारमें निर्दोषी स्वरूप का विकास होगा यही महान् लाभ है। जन्म तो तभी सफल है जब जन्म मरणके छूटनेका पद पालिया जावे।

जब जन्म होता है तब संसार में जन्मोत्सव मनाया जाता है और जब मृत्यु होती है तब दुःख। यह बड़ा विचित्र और उल्टा रिवाज है। जिसने जन्म लिया वह अवश्य ही मरेगा—यह नियम है पर जिसकी मृत्यु हुई उसका पुर्नजन्म होगा यह हो भी सकता है

और नहीं भी हो सकता। जिसका फिर जन्म ही होगा तो वह मरेगा भी न कहलायगा उसे कहेंगे निर्वाण। मरण समाधिमरण पूर्वक होना चाहिए। मरण तो समाधिमरण पूर्वक हो सकता है पर जन्म समाधिमरण पूर्वक नहीं होता। जन्म है मरने के लिये फिर भी हम महोत्सव मनाते हैं। परन्तु यह मोह जो हमारे साथ लगा है वह हमें अध: पतन की ओर लेजा रहा है। लोग कहते हैं कि यह बुड्ढा बड़ा भाग्यवान है इसने तो अपनी पत्नी का मुंह देख लिया। यह तो स्वर्ग जायगा। जब वह मरता है तब सोने की नसैनी स्वर्ग में चढ़ने के लिये उसके साथ रख देते हैं पर रखने वालों को यह पता नहीं कि नसैनी चढ़ने के काम आती तो उतरने के लिये भी यही काम में आती है। पता नहीं वह स्वर्ग जायगा या नरक। यह आरम्भ में नियम बनालो कि ५५ वर्ष की आयु में तो गृहस्थी छोड़ दो और धर्म का पालन करो। यह आयु प्रतिसमय कम होती जाती है। जैसे घड़ी में जब तक चाभी रहती है चलती ही रहती है वैसे ही यह आयु कम होती जाती है। हमारे यहां भले ही अव्यवस्था हो सकती है पर काल एक समय की देर नहीं कर सकता अत: अपने उपयोग को आत्मा में जमाओ अपनेगुणों में लगाओ। उपयोग जब स्वयं में लग जाता है तब सुखी रहता है और जब एक से पर में लग जाता है तब हैरान रहता है। परेशान रहता है। परेशानी का अर्थ होता है परईश—जिसका दूसरा स्वामी हो और इशानी—आधीनता। अर्थात जहां परको अपना बनाया वहीं परेशानी दुख और अशान्ति आगई। बड़े-बड़े जितने भी पुरुष हो चुके हैं उन्होंने यही किया कि अपनी दृष्टि परसे हटाकर अपने में लगाई। क्या राम और क्या पायुक। बड़ों ने यही किया और भविष्य के बड़े भी यही करेंगे। एक बार जो गृहस्थी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

में फंसा फिर वह छूटनेका नाम नहीं लेता। पहिले लड़केकी इच्छा थी फिर उसकी शादी की इच्छा हुई। इच्छाओं का तांता ऐसे ही बढ़ता गया और नाती और पोते देखनेकी इच्छा बनी रही। भैया! क्यों मोहमें पड़े हो ? ५५ वर्ष को आयुके बाद तो अपनी घर गृहस्थी का मोह छोड़ दो और धार्मिक जीवन बिताओ। उस ज्ञान दर्शनकी शक्तिको प्रकट करो जो आपमें ही विद्यमान है।

स्वभावदृष्टिसे देखो—यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः। अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति: स्थितिः। जै परमात्मा है सो मैं हूं और जो मैं हूं सो परमात्मा है इसलिये उपासनाके मामलेमें यही निर्णय रहा कि मेरे द्वारा मैं ही उपास्य हूं। यदि साक्षत् आत्मस्वरूप को विचारा तो वहां भी मेरे द्वारा मैं उपास्य हुआ और यदि प्रभु स्वरूपको विचारा तो वहां भी मेरे द्वारा मैं उपास्य हुआ। वस्तुका स्वरूप अखंड एक सत् है वह मात्र अपने चतुष्टयमें ही है तब बतावो वस्तुतः जो कुछ भी हम कर सकेंगे वह अपनी ही वृत्ति कर सकेंगे परन्तु पूर्ण निर्मल अवस्थासे पहिले पहिले हमारे उपयोगमें पर ज्ञेय बुद्धिपूर्वक होते हैं। यदि प्रभु जैसे शुद्ध निर्मल आत्माका ध्यान करते हैं तो एक साकार प्रेरणा मिलती है।

हमें निर्मोह होनेका उत्साह श्री प्रभु सर्वज्ञदेवके स्वरूपस्मरण से होने लगता है श्री देव कोई नामधारी नहीं है जिनका आत्मा या जो आत्मा वीतराग सर्वज्ञ हैं वह देव हैं उस चैतन्य भगवान की भक्ति करो। और ऐसी भक्ति कि स्वयं भगवान बन जाओ। पारस अपने भक्तको भी पारस ही बना लेते हैं—वह पारस क्या काम का जो लोहेको सोना ही बनादे। हम तो उसी पारस की प्रशंसा करेंगे जो लोहे (पाप से मैले पुरुषों) को पारस बना लेता है। यह निमित्तदृष्टि से सिद्ध है वस्तुत. अपने अपने स्वभावबलसे आत्मा परमात्मा बनाता

http://www.jainkosh.org

है इस संसार को असार समझकर बड़े बड़े पुरुषों ने यही किया है और उनका अनुकरण एक अनुसहण हमें करना चाहिए। जिन भोगों में हम लोग हुए हैं उन्हें यह जीव अनादि कालसे भोग रहा है फिर भी यह सन्तुष्ट नहीं होता यह खेदकी बात है। पचपनवर्षके वृद्धसे जाकर कहो:—भैया! अब तो कुछ करलो उत्तर वही मिलता है जैसी कि उनसे आशा थी—अभी मेरा नाती छोटा है, जरा बड़ा हो जाये, उसका विवाह देखलूं आदि इच्छायें दिनप्रतिदिन बढ़ती ही जाती हैं। इस आयुमें तो भैया गृहत्याग देना ही चाहिए। प्राचीन कालमें आश्रमों की सुन्दर व्यवस्था थी। २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्याश्रम था और खूब अध्ययन मनन होता था और दूसरा आश्रम था गृहस्थाश्रम। मनुष्य ५० वर्ष तक गृहस्थ रहता था फिर तिसरे सन्यास आश्रममें प्रविष्ट होता था और अन्तमें वानप्रस्थ आश्रम में चला जाता था। लोग सुखी और शान्त थे हम इसी लिये दुखी हैं कि अपने पूर्वजों के अनुकरण से लाभ नहीं उठाते। अपनी आत्मा, और अपने ज्ञानपर दृष्टि डालो। अपनी आत्माके असल स्वरूप को पहिचानो। बस सुख यही है। यही सुख और ज्ञान का निधान है।

भैया! अनादि संसार में भ्रमते भ्रमते आज यह मनुष्य जन्म श्रेष्ठकाल जैनधर्म पाया है मन का सदुपयोग करो यह तो नष्ट होने वाला ही है इससे अपना उत्तम काम बनाने का यत्न करें। वह २ प्रकार से ही बन सकता प्रथम तो अनादि अनन्त अहेतुक निज चैतन्यदेव की गाढ दृष्टि रूप भक्ति करलो, दूसरे ऐसी भक्तिके प्रसाद से जो वीतराग सर्वज्ञ स्वच्छ अनाकुल हो गये हैं उनके विशाद स्वरूप का ध्यान करलो। अन्य बातें सब अहित हैं। प्रभुभक्ति में जीवन लगाकर अपनेको अनाकुल बनालो। अन्यथा पछताना पड़ेगा। यह सारा समागम आपको भुलाने फसाने बखाद करनेका निमित्त बनेगा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इससे हितकी श्रद्धा हटालो। प्रिय ! आवो अपने स्वभाव के समीप, सर्व दुख मेटलो, नरजन्म सफल करलो। देखलो जो अरहंतके स्वरूपको जानता है वह अपने आपको जान जावेगा उसका मोहसंकट सब मिट जावेगा। वस्तुत: यह अध्यवसानका विकल्प ही आपका शत्रु बन रहा है, इसे मैटने के लिये ही आश्रयभूत पदार्थोंके त्यागका उपदेश है।

दूसरे पदार्थ तुम्हारा कुछ हित या अहित नहीं कर सकते। अत: वे तुम्हारा कुछ करते हैं—ऐसा कहना अपनी कमजोरी प्रकट करना है। उन निमित्तों की चर्चा छोड़ो और आत्माका ध्यान करो। क्रोध-मनादि कषायोंको छोड़ो तभी सुखी होगे।

एक मुनि और धोबी बात बात में लड़ पड़े और मुनिराज कहें ये देवता क्यों चुप होगये। ये हमारी रक्षा नहीं करते। देवता उत्तर देते हैं कि हम आश्चर्यमें कि इनमें मुनि कौन है और धोबी कौन ? दोनों नग्न हैं और दोनोंमें कषाय है हम किसे मुनि समझें ? तो भैया अपने धर्मका पालन करो। सहायक अन्य स्वयं ही हो जाते हैं ? विषय कषायों से अलग होकर अपने में जिनेन्द्र को देखो और इसी प्रकार अभ्यास करते करते अपनेमें सामर्थ्य प्रगट करते जिससे अपनी आत्मामें अपना प्रकाश देख सको। अपनेको अपनेमें पालना ही सच्चा ध्यान है और यही तप है। जहां पर पदार्थों से मोह नहीं—एक भी आत्माके ही दर्शन जिसे होते हैं, जिसका न तो मन चलता है और न वचन तथा न भाव ही ऐसी अभी अपने ज्ञान ध्यान की अवस्था है। यही अपने कल्याण और उपाय का साधन है।

इस आत्मामें सिद्ध बनने तककी शक्ति है। कर्म आव्रणसे यह शक्ति अप्रकट है पर वह प्रगट होनेके लिये उतावली हो रही है। सिद्ध कहते हैं पूर्णताको हम अपनेको पूर्ण बना सकते हैं पूर्ण पुरुषों को

देखकर तो और भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। यह आत्मा अपने स्वरूपको भूल गई है इसे स्मृति दिलाई जाय कि तुझमें अनन्त, अपरिमेय शक्ति सुख ज्ञान वीर्य दर्शन पूरित है तो हमें स्मरण हो सकता है। यह स्मृति प्राप्ति करनेके लिये हमें जिनेन्द्र दर्शन, उनकी भक्ति, तद प्रणीत वाणी और उनके उपदेशों को सुने। मनन करे, और उनपर चलें। इसी में हमारा ही नहीं अपितु समस्त प्राणी मात्रको सुख हो सकता है। यही आत्मा का धर्म है यही मनुष्यका रहस्य है और यही प्राणीमात्र की रक्षा और सुखका उपाय है। देवपूजा हमें किस प्रकार करना चाहिये इस विषयमें आप ही लोगोंका नोट कराया हुआ देवपूजा प्रवचन है उसे देख लेना चाहिये उसमें प्रारम्भ से अन्त तक सब वितर्कों का प्रबन्ध आगया होगा। ॐ शांति

२—गुरूपास्ति

श्रावकके षट् कर्म बतलाये गये हैं—१. देवपूजा २. गुरूउपासना ३. स्वाध्याय ४. संयम ५. तप तथा ६. दान इनमें से देवपूजाका वर्णन पहले कर चुके है। आज गुरू उपासनाके विषयमें कुछ कहा जावेगा गुरूकी उपास्ति अर्थात् उपासना करना गुरुके प्रति श्रद्धा और भक्ति रखना तथा उनकी सेवा सुश्रूसा करना गुरू उपासना कहलाती है। जो सम्यग्दर्शन, सम्यज्ञान, एवं सम्यक्चारित्रकी साक्षात् प्रतिमूर्ति है, जिन्होने रागद्वेषादि परिणाम दूर कर दिये हैं, जिन्होंने समस्त अचेतन पदार्थोंसे निज को भिन्न समझ लिया है तथा अपने अक्षयसुखके निधान चैतन्य आत्माको पहिचान लिया है, जिन्होंने आत्मा भी ज्ञाता एवं दृष्टा रूप बनाये रखनेके लिये बाह्यम्यन्तर मूर्छाको हटा दिया ऐसे निर्ग्रंथ निरारम्भी गुरूकी उपासना सद् गृहस्थके लिये प्रतिदिन करना चाहिए रत्नकरण्ड श्रावकाचार के रचियता श्री आचार्यसमन्तभद्रने गुरूका निम्न प्रकारेण स्वरूप बतलाया है:—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विषयाषावशातीतोनिरारम्भोपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरत्नः तपस्वी सः प्रशस्यते ॥

जिन्होंने विषय की आशायें नष्ट करदी है, जो निरारंभी और अपरिग्रही है; ज्ञान और ध्यान तप ही जिनके रत्न है वह तपस्वी प्रशंसा करने योग्य है। ऐसा ज्ञानी ऐसा ध्यानी तपस्वी गुरू गृहस्थों के द्वारा प्रतिदिन उपासित किया जाना चाहिये पूजा जाना चाहिये जब तक या जो गृहस्थ अपने दैनिक टषकर्म नहीं करता गृहस्थ कैसे कहा जा सकता है। गृहस्थी के दैनिक क्रमोंसे कोल्हू के बैल समान चक्कर काटने वाला व्यक्ति उन उलझनों से मुक्त होने के लिये आकुलित रहता है वह इस आकुलता से बचने का उपाय ढूँढ़ रहा है। उसे सुख शांति और निराकुलता ऐसे ही गुरूके पास मिल सकता है। वस्तुत: सुख निजका गुण है उसका विकार निजका निजसे ही होता किन्तु प्रारम्भमें सत्संग निमित्त है। उसके लिये ऐसे गुरूओं का संग ढूँढ़ना चाहिये जो उन आकुलताओंसे परे हैं उन्हींके उपदेशामृत का कर्णसम्पुटों से पान करना चाहिये शांतिके लिये उनके द्वारा कृत उपायों पर चलना चाहिये और उनके द्वारा प्रयुक्त साधनोंका प्रयोग करना चाहिये वास्तवमें अनंतसुख आत्मा में ही है, जो इष्टका ज्ञान कराता है, मार्गसे च्युत पुरुषों को जो हित के रास्ते पर लगाते है, आत्माके हितमें ही जो निरन्तर लगे रहते है तथा दूसरों को भी मार्ग पर लगाते है उन्हें गुरू कहते हैं। जो श्रद्धा तथा ज्ञान को प्राप्त करते और कराते हैं, जो आत्माको आत्मामें खोजते हैं, तथा आत्मा को सत्पथ पर लेजाते हैं वे गुरू हैं। उन गुरूओं के सत्संग की प्रेरणा हमें शान्तमुख मुद्रा वाले जिनदेवके दर्शनसे प्राप्त होता है। श्री गुरूओं की संगति करना उनकी सेवाकरना अपना अधिक समय उनके पास बिताना हमारा कर्तव्य है। जैसे कि कहा जाता है बिना

http://www.jainkosh.org

मरे स्वर्ग नहीं मिलता उसी प्रकार बिना स्वयं के प्रयत्न किये हमें सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता।

वास्तवमें आत्मा का गुरू आत्मा ही है। संसार के अन्य पदार्थोंमें जब उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो फिर उसका गुरू कौन हो सकता है? अत: हमें आत्माकी ही उपासना उसकी ही श्रद्धा करनी चाहिये जिससे इस आत्माकी मलिनता नहीं रहे। हमारे अन्तकरण में विराजमान जो चित्स्वभावी, चिदानन्द रागद्वेष परे जो आत्मा-तत्व है वही आत्मा का उपासनीय एवं पूजनीय गुरू है हमें उसकी ही पूजा करनी चाहिये और इसी निमित्त जिनकी दृष्टि सहजानन्दमय आत्मातत्व पर है, विषय कषायों से जिन्होने मुख मोड़ लिया है, रत्नत्रय के जो धारक हैं ऐसे गुरूओं की उपासना करना गुरू उपासना है।

उस गुरू उपासनाका प्रकार क्या है ! थोड़ा इस पर भी दृष्टिपात करें। उनकी उपासना ने साधन जुटाना जिससे वे अधिक से अधिक धर्म साधना कर सकें। उनके ऐसे आहार का संविभाग करना जिसके आहार करने से उनके स्वाध्याय, आत्माचिन्तन आदि कार्यों में बाधा न आये। ऐसे साधन जुटाना जिससे उनको प्रसाद हो। हमें उनके निर्देशित, या जिसपर वे स्वयं चल रहे, उस पथ का अनुसरण करना चाहिये तथा पूर्णश्रद्धा भक्ति और विश्वास से उनकी उचित मार्ग से उपासना करना चाहिये। आपकी ऐसी श्रद्धा भक्ति विश्वास दृढ़ता एवं ऐसा सुन्दर चरित्र देखकर उन्हें प्रसन्न का अनुभव होगा। यदि आपकी ओर दृष्टि करेंगे उनके शरीर की सेवा शुश्रुसा; परिचर्या, वैयावृत्य करना तथा अधिक समय तक इनके सम्पर्क में आना भी गुरू उपासना ही है। एक स्थान पर समय सार में लिखा है कि "यह जीव अनादि काल से संसार में भ्रमण कर रहा है तथा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनेक गतियों में जाकर वहांके दुखों से दुखी हो रहा है पर फिर भी वह यदा स्वयं को भूल परमें अपनापन जोड़कर विषय कषाय, रागद्वेष, महाममत्व से परिचय कर रही है, उनमें उत्पन्न सुख दुखों का अनुभव कर रहा है।" वे विषय कषाय संसार में घूमने को जीव की अवधि की ओर भी लम्बी बना रहे हैं। एक आत्मतत्वको भूल कर हम नाना प्रकार के परिणमन कर रहे हैं सहजसिद्ध भगवान आत्मतत्व न शुद्ध है न अशुद्ध। जिसकी निर्मल है वह आत्मतत्वका दर्शन कर सकता है। आत्मदर्शन की शक्ति जीव में है, थी और रहेगी।

एक जगह गुरू ने कहा:—ज्ञान की उपासना करो। शिष्य भक्ति और दृढ़ता से बोलो:— गुरू देव ! ज्ञान तो सदा आत्मा में है ही उसकी क्या उपासका। उपासना तो उसकी की जाती है जो हम से दूर हो। तब उसने शिष्य को समझाते हुए कहा:—आत्मा के ज्ञानमय होने पर भी तुम उसे ज्ञानमय देखते नहीं–अतः यह कहा जाता है कि ज्ञान की उपासना करो। उसकी उपासना करने से ही ज्ञान पैदा होता है। उसके समान संसार में सुख का अन्य कोई कारण नहीं है। कविवर दौलतराम ने कहा है:—"ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण।"

शाब्दिक बोध तो हमें अन्यत्र अन्य उपाय से भी मिल सकता है परन्तु आत्माके जन्म मरण के दुःख सर्वस्वको जो मेट सके ऐसा प्रबल भेदविज्ञानकी प्राप्ति हमें गुरूउपासनासे प्राप्त होगी अपने आप में परन्तु निमित्त ज्ञानी गुरू होते हैं। जिनकी वृत्ति अलौकिकी होगई है कषाय स्वार्थ मायाचारशल्य जिनके समीप नहीं है केवल शुद्ध आत्मचिन्तन से जो पवित्र हो रहे हैं जगतके जीवोंपर अमोध वास्तविक करुणा करते हैं उन गुरूदेवकी उपासना बड़ा ही उत्तम भवितव्य हो तब प्राप्त होती है। मनुश्यजन्म तो निरन्तर जा ही रहा है,

इसका उपयोग सुन्दर यही है कि गुरू संग में वास करो अधिक से अधिक गुरू सग का लाभ उठावो। गुरूओं की भक्ति सेवा में हृदय को स्वच्छ बनावो। जो निर्ग्रन्थ समस्त परिग्रह से रहित है केवल आत्मस्वभाव की ही जिनके धुन लग रही है उन पवित्र गुरूराजों की सेवा से बढ़कर भी और कोई वैभव है ? हमारी भूल और हमारा सत्पथ जिनका दर्शन ही बता देता है।

जो आत्मा नित्य अन्तरंग में प्रकाशमान हैं, वह कषाय एवं राग-द्वेष मोह के चक्र में फंसने के कारण देव, नरक तिर्यञ्च-मनुष्य आदि गतियों में भ्रमण कर रहा है, इसी कारण यह जीव आत्मतत्त्व को नहीं जान पा रहा है—अतः उसको हमने न जाना न देखा और न उसकी उपासना की। हम अधिक से अधिक गुरू के सम्पर्क में रहें जिससे उनके उपदेशोंके श्रावकसे उनके मार्गपर चलने से हम अपने में अपनेको स्वयं खोजनेके योग्य बना सकें। गुरूका अर्थ होता है महान् या बड़ा या वजनदार। अर्थात् जो महान हो बड़ा हो जिसके आचरणका हमपर प्रभाव पड़े। जिसके उपदेश हमारे हृदयपर अमिट छाप छोड़ें जिसके वचनोंमें जादू हो आत्माका परिवर्तित करने का जिसकी वाणी में सुधा मिली हो जिसे सुनने से हमें ऐसा प्रतीत हो–यह संसार असार है वृथा है। गुरू ही उद्धारक है जो गुरू किसी महान कार्य में शुद्ध सलाहकार हो सके तथा एक प्रकार का वजन जिनसे प्रकट हो जिसके प्रति आत्मामें श्रद्धा है वही उसका उपास्य गुरू है। निश्चयसे तो आत्मा ही गुरू है वही महान है इनके प्रसाद से नित्य निज भाव का दर्शन होता एक जगह लिखा है— एकत्वे नियतस्य आदि एकपने में नियत। शुद्धनय से देखा जाय तो एकत्वे नियतस्य का पूर्ण ज्ञान होना वही धन है और ऐसा ही निज आत्मा का दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। जिसपदार्थका विचार किया उस समय अपने को वैसा ही जाना।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अपने आत्मतत्त्वको अनेक पदार्थोंके संसर्गसे अनेक रूपमें जाना परन्तु एक स्वरूप को पहिचाननेका हमने कभी प्रयत्न ही न किया। मैं आत्मतत्त्व एक प्रतिभास रूप हूं—और अनेक अन्य प्रतिभास उसके ही है। जीवने उस एक स्रोत रूप प्रतिभाषी आत्मतत्त्वको अनुभव नहीं किया मेरा कोई कुल नहीं, मैं न धनी हूं न हूं निर्धन और न मैं दरिद्र हूं। मैं न स्त्री हूं न पुरुष, और न नपुंसक मैं अन्य कुछ नहीं हूं न कुछ मेरा है। यह सब माया और स्वप्न है। आत्माका सम्बन्ध किसी पदार्थसे नहीं है—वह सबसे निज स्वरूप में लीन व दर्शन ज्ञान का अक्षय भंडार है। व्यापकता जिसमें है ऐसे उस ज्ञाननिधान आत्माका दर्शन करना निश्चयसे गुरू उपासना है। देखा यह सब चित्रण निर्ग्रन्थ उसके दर्शनसे मिल जाता है धर्म साधनके योग्य साधन भेंट करना उनकी सेवाकरना व्यवहारसे गुरू उपासना है। गृहस्थ अपने षट्कर्मोंको यदि रोजकरे तो तो हमें हमारा गुरू हमारे में ही मिल जावेगा। सत्य उद्धारकगुरू जिसने आनेमें पाया ऐसे गुरूओंकी उपासना हमें ध्येयसे विपरीत मार्गकी ओर न जाने देगी अतः विकल्पावस्था तद् गुरूपास्ति करते रहना चाहिये।

सर्वहित करने वाला, सुखकी खान, शुद्धपर्याय की पहिचान करने वाला, ओर अपने स्वभावसे तुलना करनेवाला पश्चात् वर्तमान विभावों पर अति खेद प्रकट करने वाला और इन पर्यायोंमें ध्रुव निज निज स्वभावकी दृष्टि अपने स्वभावदृष्टिकी धुन गुरूओंकी उपासना करता है, वह विनयी उपासक न रखने वाला भव्य अन्तरात्मा जब अन्य व्यवहारमें आता है तब उसकी आदत होती है:— (१) अपनी गलती या भूलको समझना (२) हित-मित-प्रिय स्वपर कल्याणकारी वचन बोलना और जब लौकिक व्यवहार सम्पर्कमें आता है तब विनय एवं नम्रता और ज्ञानका भाव रखना प्रवृत्ति

http://www.jainkosh.org

करता है, विनय बिना तो गुरूकी उपासना तो होती ही नहीं है भव्य अन्तरात्मा ऊपर लिखे अनुसार लौकिक जगत में व्यवहारमें आता है तो वहां भी विनय की सुगन्ध महकती रहती है। विनय और ज्ञानमें उतना ही अन्तर है जितना आशा और प्रतीक्षामें है। मनुष्यको बचपनसे ही विनयका पाठ सीखना चाहिये। यदि बचपनमें विनयके भाव न किये तो उसको जीवन पर्यन्त दुःखों का सामना करना पड़ेगा। क्योंकि अच्छे या बुरे संस्कार बचपनमें पड़ जाते हैं वे संस्कार जीवन भर बने रहते हैं जिस प्रकार नये बरतनमें जो नाम उत्कीर्ण कर दिया जाता है वही नाम अन्त तक रहता है उसी प्रकार जो लक्षण बचपनमें आजाते जीवन भर बने रहते है। बालकका हृदय कच्ची मिट्टीके समान होता उससे हम चाहे घड़ा बनालें चाहे दीपक चाहे लोटा या हम उसे किसी भी रूपमें निर्मित करलें घड़ेके पकजाने पर उसका रूपपरिवर्तित नहीं हो सकता असंभव नहीं तो अति कठिन अवश्य भले ही वह फूट जाय वैसे ही जिसने बचपनसे विनयशील और नम्र होने की आदत न डाली वे बड़े होनेपर अपना चाहे अपमान सह लेंगे, दुःख और कष्टोंका सामना करलेंगे पर वे अपनी आड़ या मनका परित्याग नहीं करेंगे। वे जीवनभर दुखी रहेंगे और रहेंगे अशान्त। अविनयी पुरुषका कोई आदर नहीं करता, कोई उसे अपने समीप नहीं बैठने देता, उसके द्वारा कथित वचनोंको कोई प्रमाण नहीं मानता। लोग उसकी निन्दा करते हैं और उसके प्रति घृणाके भाव रखते हैं। नम्र आदमी सदा सुखी रहता है और ससारमें उसका मान, आन, आदर एवं सन्मान बना रहता है। भले ही वह निर्धन हो पर लोग उसे पूजते हैं उसकी प्रशंसा प्रगट करते हैं। नदी के प्रवाहमें आने वाला वेग झुकजाता है और प्रवाह के अनन्तर पुनः अपना शीर्ष ऊंचा उठा लेता है पर नीरस एवं शुष्क स्थाणु (सुखी लकड़ी) नदी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के प्रवाहसे टकराने पर अपने अस्तित्वको नष्ट कर देता है। यही अवस्था अविनयी व्यक्तियों की भी होती है जो शुष्क स्थाणुकी हुई ऐसे अविनयी पुरुषोंके भाव गुरूकी उपासनाके नहीं होते हैं और इस कारण वे जीवनभर आत्मकल्याणकी दृष्टिसे दूर हो जाते हैं। मानके मर्दन को नहीं करनेवाला जीव गुरूकी वैयावृत्य नहीं कर सकता। और देखो भैया! मानी लोग कदाचित् गुरूकी सेवा करें तो भी वह इस भावको भीतर लिये हुए रहता है कि अच्छे तो हम ही हैं ये विचारे निराश्रय हैं इनकी खबर रखना चाहिये आदि। गुरूकी उपासना विनयशील ही कर सकता है। हम सबको बड़ा लाभ पानेके अर्थ विनयशील अवश्य होना चाहिये। यह मार्दवका ही तो प्रकार है। जैसे कठिन पत्थरमें पानी नहीं भिदता इसी प्रकार मानी कठोर हृदय पुरुष में शिक्षाका असर नहीं होता!

गृहस्थके लिये भी नम्र होना अत्यावश्यक है नम्रता एवं विनय के अभावमें गृहस्थके लौकिक व्यवहार नहीं चलेंगे, उसके ग्राहक उससे असन्तुष्ट एव अप्रसन्न रहेंगे, उसका मान मर्यादा भी जाती रहेगी एवं सदा घरमें कलह मची रहेगी। उसका जीवन विनय के अभावमें पशु जीवन से भी अधम एवं नारकिय जीवन हो जायगा।

आधुनिक शिक्षा प्रणालीके स्नातक विनय एवं नम्रतासे अपरिचित रहते हैं। वे अपने सामने अपने बूढ़े पुराने माता या अन्य अनुभवी पुरुषों को कुछ समझते ही नहीं। वे तो यही समझते हैं कि हमने यदि कोई शिक्षा सम्बन्धी उपाधि प्राप्त करली तो हम बड़े हो गये। पर वास्तव में भैया! बात कुछ और ही है। यदि सच पूछा जाय तो पढ़ना प्रारम्भ तब होता है जबकि हम लौकिक व्यवहार में उतर पड़ते हैं। इस अविनयके कारण उनके घरमें सर्वदा नारकीय ताण्डव ही मचा रहता है और वे अपने पूर्वजोंकी प्रतिष्ठा भी खो बठते हैं।

साधु और त्यागी को भी विनयी होना चाहिए। यदि त्यागी में विनय नहीं तो उसमें और सामान्य व्यक्तिमें कोई अन्तर ही न रह जाय वे स्वच्छन्दवृत्तिके हो जायेंगे और अपना धर्म पालन न करसकेंगे। विनय मानकषायके शिथिल होने पर होताहै। जिसके पर्यायमें अहंबुद्धि है जो वर्तमान परिस्थिति में स्वभावकी स्वीकारता करता है उसके ही ऐसा गौरव रहता है कि मैं इतना ज्ञानी हूं ये लोग अज्ञानी हैं, मैं त्यागी हूं पूज्य हूं इन लोगों का काम मानने और पूजने का है। इस प्रकारके गर्व में बाह्यसे त्यागी कहलाने लगें तो क्या हुआ परन्तु शान्ति तो लेशमात्र नहीं। उसका कारण भी यह है कि गर्विष्टने अपनी डिग्री तो इतनी बड़ी मानली अन्य लोगों को सेवक समझते हुए कि इन्हें मेरे प्रति इतना आदर का व्यवहार करना चाहिये किन्तु परका परिणमन उसके आश्रित नहीं है सो सबने परिणमनों को प्रायः प्रतिकूल समझता रहता है अतएवं संक्लिष्ट रहता है। यदि यादवें धर्म होता विनयभाव जगना तो सब जीवों के सहज स्वरूप को देखकर किसी के प्रति ग्लानिकका भाव लाता। ग्लानिभाव की आदत और वैयावृत्य दोनों भाव एक साथ नहीं हो सकते। यदि गुरुपासना के सन्मार्ग में चलना हो तो विनयशील बनो। गुरुवों का सर्वसिहिदायक प्रसाद पाना हो तो विनयशील बनो।

विनयके बिना धर्म पाला ही नहीं जा सकता। विनय के होने से मनुष्य में निम्नलिखित गुण एवं योग्यतायें प्रकट हो जाती हैं— विनयसे ही पात्रता और योग्यता आती है तथा योग्यता से धन प्राप्त होता है। धन प्राप्त होने से गृहस्थावस्थामें धर्म के योग्य निराकुलता रहती है और धर्म से सुख प्राप्त होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि विनय ही धर्मका और सुखका मूल कारण है। धन की बात तो अत्यन्त ऊपरी है विनय तो आत्मसुखके समीप पहुंचाने के लिये है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

साधुओंकी स्वछन्द एवं नियन्त्रणहीन वृत्तिका समाज एवं जनतापर बुरा प्रभाव पड़ेगा जिससे बाह्य धर्मके द्वारा अधर्मका प्रचार एवं प्रसार होगा। आजकलके त्यागी पुरुषोंको अपने आचरणकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। चाहे कोई धनी हो या विद्वान बिना नम्रताके वे निन्दाके पात्र हैं। विनयको आश्रम में तप कहा है विद्वान वही है जो नम्र है। अविनयी होना अशिक्षतता एवं अज्ञानताका चिन्ह है। धनी व्यक्तिको धनका घमण्ड न होना चाहिए क्योंकि संसार में न तो कोई धन लेकर आया है और न कोई धन लेकर संसारसे जायगा। सैंकड़ों पुरुष आये जैसे भी जिये जीकर अन्तमें चल दिये। सिकन्दर महान जब मृत्यु शैय्या पर करवटें बदल रहा था तब उसने अपने सरदारसे कहा कि जब मेरा शव निकाला जाये उस समय मेरे हाथ खुले हुए उसके बाहर रखे जांय। उसने बताया कि जिससे लोगों को यह ज्ञान हो जाय कि इतना बड़ा राजा जिसने अनेक युद्ध किये और जिसके पराक्रमकी पताका लहरा रही है, यहाँसे खाली हाथ ही जारहा। धन न किसीके साथ गया है और न किसीके साथ जायेगा अतः धन पाकर गर्व करना अज्ञानताकी बात है। धनकी मूर्छासे यह भव और परभव दोनों ही बिगड़ते हैं पर विनयसे इहलौकिक एवं परलौकिक दोनों भव सुधर जाते हैं। सिकन्दर जैसे महान् मर गये परन्तु गुरुपास्तिका कर्त्तव्य किये बिना अपना जीवन व्यर्थ बनाया।

बचपनमें मनुष्य निर्दोष एवं निष्कलंक होता हैं जब यह किशोरावस्थामें प्रविष्ट होता है तब उसमें मंद बुद्धिका प्रवेश हो जाता है। वे अपने से बड़े बूढ़ोंका ध्यान नहीं रखते। उनको यह पता नहीं कि इन्हें कितना जीवनका अनुभव प्राप्त है, वे कितने गहरे पानीमें हैं और हमारी कहां तक पहुंच हैं इसका उन्हें कुछ भी ज्ञान

http://www.jainkosh.org

नहीं होता। ऐसा होनेसे घर भी समस्त व्यवस्था ही नष्ट प्रायः हो जाती है। जब वे किशोरावस्थामें ही स्वयं को सब कुछ समझ बैठते हैं तब उनकी उन्नतिके समस्त द्वार रुद्ध हो जाते हैं। फल यह होता है कि वे न तो कुशल नागरिक ही बन पाते हैं और न सफल कार्य-कर्त्ता। उस कारण उन्हें जीवनपर्यन्त कष्ट एवं आपत्तियों का सामना करना पड़ता है। गुरुपासनासे कष्टोंसे बचने की बड़ी योग्यतायें प्राप्त हो जाती हैं। जैन धर्म पर चलने वाला पुरुष चाहे वह गृहस्थ हो या त्यागी अपने दोनों भवों को सुधार सकता है और कल्याण कर सकता है। आन व विनय उसकी सत्ययात्रा की सहयोगिनी होती हैं कदाचित कोई भ्रष्ट भी हो जावे परन्तु यदि कुछ आन शेष हैं तो शीघ्र सुधर जाता है। एक नगरमें एक सेठ थे। उनका पुत्र वैश्यागामी था। लोग उनसे आकर उनके पुत्रके दुश्चरित्रकी निन्दा करने लगे। अभी तक सेठ अपने पुत्रके चरित्रके सम्बन्धमें अन्धकारमें ही थे। वे स्वयं एक दिन घूमने गये और उन्होंने वैश्याके साथ पुत्रको देखा और तब उसकी आखें खुलीं। पिताको देखकर पुत्रने अपनी आंखों को अंगुलियों से बन्द कर लिया। यह देखकर पिताने सोचा कि लड़का अभी बिगड़ा नहीं है उसमें अभी ज्ञान है और वह सुधर सकता है। लोगोंने पुनः निन्दा की उसके पुत्रकी। पर सेठने पुत्रके समक्ष वही कहा कि मेरा पुत्र कभी ऐसा कर ही नहीं सकता। पिता के इन आनपूर्ण शब्दोंका पुत्रके अन्तरपर प्रभाव पड़ा और उसने उस दिन से ऐसा करना छोड़ दिया। तात्पर्य यह कि जहां आन है वहां मर्यादा है और है शांति, सुख। जहां आन है वे सुधर सकते हैं, सम्हल सकते हैं पर जहां इनका अभाव है वहां सुख शांति का भी अभाव है। यदि गुरुवोंकी आन रखी तो सुधरनेका अवसर पाया जा सकता है। जिनकी दृष्टि में गुरुका जीवन यों ही निष्फल जाता है।

Version 1

बिना गुरुके ही जीवन को सन्मार्गमें लेजाकर सफल बनाना तीर्थंकर जैसे महापुरुष का ही काम है। हम आप लोगों की गति गुरु बिना भक्ति नहीं है। जिसका हृदय गुरुभक्ति से भीगा नहीं है उसका हृदय ही खराब है। प्राय: गुरुभक्ति हीन धनाढय पुत्र अन्त में तिरस्कृत होकर दुखी होते देखे गये हैं। गुरुके प्रति इतनी तीव्र भक्ति हो कि जो कुछ अपने पास है वह सब भी चरणोंमें न्योछावर किया जासके। गुरुभक्ति से सब प्रकार की योग्यतायें हो जाती हैं।

वह परमार्थ दृष्टा भव्य अन्तर आत्मा चारित्रके उदयवश गृहस्थ स्वास्थ में रहता है पर वह अपना आचरण व्यवहार इतना सुन्दर एवं पवित्र तथा सद् रखता है जिससे कि अन्य प्राणी मात्रको भी दुख या कष्ट नहीं होता। उसके वचनों में जादू है। उनमें मधुरता झरती है और अमृत बरसता है। वे हित-मित भाषी एवं स्वपर कल्याणकारी होते हैं। उसके वचन मनुजके हार्दिक कालिमाका प्रक्षालन कर उसमें निर्मलता, पवित्रता एवं शुद्धता का संचार करते हैं। उसका सद व्यवहार होने के कारण उसकी साधना एवं चर्या अनवरत निर्विघ्न वनी रहती है। उनके कषाय की प्रबलता लेशमात्र को नहीं होती। उनकी आत्मा स्वच्छ दर्पण की भांति होती है। वे कषायोंके त्यागी होते हैं। कषायों के त्याग करने से उनके गुण प्रकट हो जाते हैं। क्रोध आत्मा का भाव या स्वरूप नहीं है। वह तो आत्मा का विभाव या विकृतावस्था है। क्रोधमें मनुष्य होश खो बैठते हैं—शरीर का उन्हें ध्यान नहीं रहता, आंखोंमें लालिमा भर आती है, मुखमें विकृतता हो जाती है. ऐसी क्रोध कषाय से ज्ञानी आत्मा परे या निर्लिप्त होते है। क्रोधी का गृहास्थिक एवं सामाजिक जीवन दुखमय होता है। क्रोधके अभाव में समता गुण प्रकट होता है। कुछ पुरुष थोड़ी सी बातमें ही आगबबूला हो जाते हैं उन्हें ऐसी

प्रकृति त्यागकर समतासुधाका आस्वादान करना चाहिए। मानी का सिर सदा नीचा होता है इस कहावत से सभी परिचित ही हैं। रावण सरीखा राजाका भी मानके कारण चिन्ह तक न बचा फिर तुम्हारी हमारी क्या हस्ती। मानी तब तक निन्दित होते हैं जब तक कि गगन में सूर्य चमकता है। जब कभी हमें मानी की निन्दा करनी होती है हम रावणका नाम लेकर ही उसे निन्दित करते हैं। मान के अभाव में विनयशीलता आती है जो आत्मा का गुण है और आत्मा का निजका स्वभाव है। आजकल ये व्यक्ति बहुत कम देखे जाते हैं जिन में मान न हो। मानी स्वयं भी वास्तविक अवस्था नहीं समझ पाता क्योंकि उसके हिये कि आंखें नहीं रहती और इसीके कारण वह दूसरों की अवस्था से भी स्वयं के लिये अपरिचित रहता है। स्वपर के ज्ञान के बिना वह संसारचक्र में भ्रमता रहता है मानी मान के लिये क्या-क्या नहीं करता ?

ये तो सब उसकी व्यवहारकी बातें हैं जिनमें मानीको असुविधा होती है। सबसे बड़ी आपदा तो अविनयमें यह है कि वह आत्मा ज्ञानका पात्र ही नहीं होता। कल्याणका सबसे बड़ा बाधक अहङ्कार का ही तो प्रकार है। जिसने गुरुकी भक्ति भावसे उपासना नहीं की वह क्या सत्पथका पात्र होगा। गुरु भक्ति भी वस्तुत: अपना ही हित है। हम गुरुकी क्या सेवा कर सकते हैं परन्तु गुरुकी निष्कपट सेवाके भाव से हम अपनी सेवा कर लेते हैं। गुरु रत्नत्रयकी मूर्ति हैं, सम्यग्दर्शनके स्वरूप में बताया है कि इसके होने पर शरीरसे भिन्न आत्मा की प्रतीति हो जाती है परन्तु भैया देखो इस प्रतीतिका साकार रूप गुरु महाराज रख रहे हैं। ऐसे गुरुवोंकी उपासना करना अपने ही विशिष्ट सत्य स्वार्थका पोषण करना है। मानी पुरुष से अपनी ही सिद्धि होना कठिन है वह दूसरे का क्या सुधार उपकार करेगा ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मानी तो निज आत्माको ही कषायों से जला रहा है उससे दूसरोंका क्या भला बनेगा। भैया बहुत से आदमी ऐसे हठी मानी पाये जाते कि उनके प्रतिकूल कोई बोले या उनका सन्मान न करे तो खुद की बरबादी कर लेते हैं।

टीकमगढ़में एक स्वर्णकार रहा करता था। एक दिन उसकी जीवन संगिनीने आकर कहा:—पतिदेव ! मेरे लिये वाबुरियां बनादो पतिने कुछ दिन तो टाल-मटोल किया पर जब उसे रोटी खाना ही कठिन हो गया तब उसने उसे वाबुरियां बनवा दी। उसने वे पहनी और स्वयं को धन्य माना। इस गहनेकी लोगोंने कोई प्रशंसा न की क्योंकि वे धोतीके नीचे छिपी रहती थी। परन्तु वह तो मान एवं प्रशंसाकी भूखी थीं। अपने मानके लिए चिन्तित उसने अपने घरमें आग लगादी। फिर तो वह लोगोंको सहायतार्थ हाथ पसार पसार कर पुकारने लगी। पड़ौसिन ने उसके गहने देखे और बोली—अरी जीजी ! तुमने जे बावुरियां कब बनवाली ? सुनारी बोली अरी रांड अगर पहिले से ही यह कह देती तो मैं घरमें यह आग क्यों लगाती देखो मानके लिए मनुष्य सब करने के लिये तैयार हो जाता है। अपनी हानि भी करता और दुर्वचन भी बोलता है। दुर्योधन भी मानके पीछे महाभारतका युद्ध करने को पतरर हुआ था। अतः मान से अनेक महान अनर्थ हो जाते हैं ऐसे मानके फंदेसे निकलकर अब हमें विनय देवीके चरणोंकी शरण लेना चाहिए। माया भी आत्माका स्वभाव नहीं हैं। जो मनसा-वाचा-कर्मणा एक ही प्रवृत्तिरूप नहीं होते वे मायाचारी, छबीं, कहाते हैं। वे चुगलखोर आदि नामोंसे निन्दित किये जाते हैं। वे न तो किसीके विश्वास पात्र ही रहते हैं और न किसी द्वारा आदरणीय या सम्माननीय ही।

मायाचार प्रकृतिका मनुष्य गुरुपासनाका अधिकारी नहीं है। गुरु

http://www.jainkosh.org

तो स्वयं सरलताकी मूर्ति हैं यदि उनकी सेवा करते हुए मायाचार जैसा अनर्थ न छूटा तब तो बड़ा ही अफसोस है। इस अफसोसकी वात तो दूर रही कितने ही अज्ञानी जीव गुरुकी सेवा भी मायाचारी से करते हैं हमारी समझसे वे तो दोनों भवोंको बिगाड़ते हैं।

मायाके अभाव में सरलता एवं निश्चलता गुण प्रकट होते हैं इस गुणके अभावमें हमारे समस्त सामाजिक व्यवहार दुःख पूर्ण हो जाते हैं। हमें बालक की तरह निश्छल होना चाहिये बालक निष्क-पट होते हैं। एक बार एक व्यक्तिने आकर एक दरवाजे पर पुकारा बाबूजी ने बच्चेसे कहा:— कहदो बाबूजी घर नहीं हैं। इस अवसर पर उक्त पुरुषको बहुत लज्जित होना पड़ा इसका कारण था असत्य वचन।

ऐसे व्यक्ति की पड़ोसी भी सहायता नहीं करता पड़ोसी उसकी अस्वस्थतामें देखने जायेंगे तो ऊपर से तो वे शुभकामनाएं प्रकट करेंगे पर अन्दर से उनके यही पुकार निकलेगी कि उसका बुरा हो क्योंकि उसने अपने मायापूर्ण व्यवहार द्वारा सबको असन्तुष्ट कर रखा है। स्वयंके भगवानको संतुष्ट करो सरल बनो फिर अन्य से आपत्तियों के आनेका प्रायः अभाव हो जायगा। मायावी स्वयं वक्र है वह सरल की क्या उपासना करेगा. मायावी अस्थिरचित्त है वह स्थिरचित्त की क्या करेगा। जैसे मायावी गुरुपासना के योग्य नहीं वैसे ही लोभी भी गुरुपासनाके योग्य नहीं होते। पहिले अपने आपको गुरुकी उपासनाके योग्य बनाना चाहिये। लोभ कषाय भी सत्पथसे दूर रखने वाला है लोभी तो बापको भी नहीं गिनता मोक्षमार्ग में चलने वाली कथा तो दूर रहो। लोभी से गुरुपासना कभी नहीं बन सकती क्योंकि गुरुपासनाका प्रभाव खुद में ही होता है जहां लोभ कषाय की मलिनता है वहां गुरुपासना का परिणाम नहीं हो सकता लोभवश

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गुरुकी उपासना करना गुरुपास्ति नहीं है। मैं समस्त परद्रव्योंसे प्रथक् हूं पर निमित्तको पाकर उत्पन्न होने वाली स्व तरंगोंसे भिन्न हूं मैं ज्ञायक मात्र हूँ इस प्रकार निज स्वभाव के भान बिना पर का लोभ होता है तो इसमें आश्चर्य क्या है ! मिथ्यात्वमें तो यह प्राकृतिक ही है। तथा जिसे स्वभावका भान न हुआ हो तो वह गुरुपासना का सौभाग्य न पाये यह भी पापोदयमें प्राकृतिक है। भैया लोभकषाय बहुत बुरी कषाय है। सब कषायोंके छूट जानेके पश्चात् यह शेष रहती है इसका अन्त में नाश हो पाता। सो भैया देख भी लो अन्तिम कषाय है लोभ। धन पैसे आभूषण कपड़े आदि के प्रति मोह ममत्व रखना लोभ है। लोभ पापों का बाप है। एक विद्वान ने कई वर्षों तक अध्ययन किया और लौट आया। एक दिन उसकी स्त्रीने पूछा कि पाप का बाप कौन है ? विद्वान ने ग्रंथके पन्ने पलटे परन्तु कुछ हाथ तक न आया और पुनः पाप का बाप पढ़ने काशी चल दिया। वह शामको एक मकानके चबूतरे पर सो गया सुबह वैश्या आई वैश्यासे उसकी बात चीत हुई तब उसने कहा कि मैं बता सकती हूं कि पापका बाप कौन है। बस पंडितजी को वहीं ठहरा लिया। पंडितजी रोटी बनाने लगे तब वेश्या बोली अरे ! आप क्यों कष्ट करते हैं। लाओ मैं ही तुम्हारी रोटी देख दूं कि रोटी कच्ची है या पक्की पंडित जी थे पूरे ब्राह्मण, उन्होंने ऐसा करने से मना कर दिया। १००) की थैली भेंट कर दी वेश्या बोली लीजिये महाराज इससे प्रायश्चित कर लेना यहां कोई देखता थोड़े ही है। इस तरह पंडित जी ने स्वीकृति दे दी और वेश्या ने उनकी रोटी सेक दी। जब भोजन का समय आया तब वेश्या ने कहा महाराज मैं एक ग्रास आपको अपने हाथ से खिलाना चाहती हूं और उसने ३००) की थैली पंडित जी के सामने रखदी। पंडितजी ने पहिले तो आनाकानी की पर ५००) पाने मंजूर हो गये। ग्रास खिलाती हुई वेश्या ने पंडित जी के गाल पर एक तमाचा लगाया और कहा पंडितजी "लोभ पाप का बाप बखाना"।

इसलिये भैया अगर आप सुखी रहना चाहते हैं तो आपको अपनी कषायें मन्द करना चाहिये। किसी कषाय के रहते हुये गुरुपासना नहीं होती वास्तविक विनय कषाय की तीव्रता में नहीं होती। सूक्ष्म दृष्टिसे देखो तो सभी व्रत आत्म विनयकी पूर्तिके लिये है। गुरुपासनाके लिये ब्रह्मचर्यसे रहना भी गृहस्थके लिये अति आवश्यक है। ब्रह्म माने आत्मा अर्थात आत्मामें रमन करना सो ब्रह्मचर्य है कुशील पाप आत्मरमणको अत्यन्त विरोधक हैं अतः कुशीलके त्याग ब्रह्मचर्यके दृढ़ एवं स्थिर बनानेके लिये हमें विवेकी मनकी लगाम अपने हाथमें रखनी चाहिए और इन्द्रियों पर विवेकी मनका एकाधिकार होना चाहिए मनपर इन्द्रियों का नहीं। जैसे बिना लगाम हाथमें रखे, घोड़े पर बैठना प्रतिक्षण धोखेसे भरा हुआ है उसी प्रकारा इन्द्रिय घोड़की रास मन घुड़सवारके हाथ रहना चाहिये। यदि घोड़ सवारके वशमें है तब तो कोई संदेह ही नहीं है और यदि सवार घोड़े के वश में हुआ तब तो सवार समीप है और आस-पास के अन्य पथिकों को भी जो उस सड़क पर चल रहे हैं। उसी तरह यदि मन के बशमें है इन्द्रियां तब तो ठीक है यदि इन्द्रियोंके वशमें मन हुआ तो उस मनुष्यके ब्रह्मचर्य नष्ट होनेका सन्देह है और इसका प्रभाव अन्य व्यक्तियों पर भी शीघ्रता पूर्वक पड़ जायगा। जिसके मन में कामवासना प्रबल है उस स्त्री की उपासना से ही फुरसत नहीं मिलती गुरु की उपासना तो करेगा क्या जिसकी जैसी भावना होती है उसीके भावके पूरकों की सेवा करता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बन्धुजन संसारमें सुख सत्संगतिसे बढ़कर कहीं नहीं है और आत्म सुख आत्मासे अन्यत्र कहीं नहीं है। गुरु की उपासना बड़े सौभाग्यशालियों को ही प्राप्त हो सकती है गुरुदेव पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं उनकी सेवा करने वाले का भाव भी ब्रह्मचर्यकी ओर होता है तो वह गुरुपासना करने वाला कहला सकता है। गुरु की उपासना से गुरु का हम कुछ उपकार नहीं कर रहे हैं उनका उपकार कौन कर सकता है वे स्वयं महान हैं अपना उपकार करनेमें पूर्ण समर्थ है गुरु की उपासना से हम स्वयं अपनी भलाई कर लेते हैं। हमें गुरु सेवा के अधिकारी होने के लिये ब्रह्मचारी होना चाहिये।

जीवन सरिताके दो तट हैं एक दुख और दूसरा सुख। अब्रह्मचारी दुखके तट पर हैं यदि उसे सुख प्राप्त करना है तो ब्रह्मचर्य रूपी नावमें बैठकर वह संसार सरिताको पार करके सुख तटपर पहुँच सकता है। आत्म संयम नौकाकी खेवटिया है। यम नियम दूर से ही कठिन मालूम पड़ते हैं। जब हम उन्हें पालना शुरु करते हैं वे सब सरल हो जाते हैं। नियम लेने पर सब सध जाता है। जिनकी अवस्था ४० वर्ष की हो गई है उन्हें तो आजन्म ब्रह्मचर्य ले लेना चाहिए। अब्रह्मचर्यमें अकल्याण है जैसे किसीके ४० वर्षकी अवस्था के बाद बच्चा हुआ तो उसे अभी २० वर्ष और गृहस्थीमें फंसना पड़ेगा। ब्रह्मचर्य न रखनेसे शारीरिक, मानसिक, वाचनिक, एवं आत्मिक शक्तियां क्षीण हो जाती हैं। वे सदा बीमार ही बने रहते हैं। वे दुर्बल एवं निर्बल हो जाते हैं। किसी कामके कार्यमें उनका मन नहीं लाता। कभी सिर दर्द करता है तो कभी शरीरमें थकावट बनी रहती है तो कभी जुकाम हो जाता है।

ब्रह्मचारियोंके लिये सत्संग एवं सत्समागम में रहना चाहिए। संसार शरीर भोगसे अत्यन्त विरक्त गुरुके संग से बड़ा और क्या संग

http://www.jainkosh.org

होगा। उन्हें अपना समय ज्ञानोपार्जन एवं स्वपर कल्याणमें बिताना चाहिए। गुरुपासना यथार्थतः करते हुए रत्नत्रयकी ओर झुकाव रहता है। गुरुपास्ति करते हुए स्वकीय आत्माका प्रयोग अपनी आत्मामें ही लगानेका सफल प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्मचर्यकी विशेष साधना करना चाहिये।

जैसे पर्वत से आने वाली नदी के जलका प्रवाह नीचे आने पर पुनः वापिस ऊपर को नहीं लौट सकता उसी प्रकार गया हुआ ब्रह्मचर्य पुनः हस्तगत नहीं होता बीता हुआ समय एवं आयु पुनः नहीं आती। यदि तुम चाहो कि हम फिरसे बच्चे हो जायें तो क्या हो सकते हो। आज ज्ञानचन्दजी ने ६ माह, देवचन्दजी ने ६ माह ब्रह्मचर्य व्रत किया। देखो ये अभी जवान बच्चे ही तो हैं पंडित प्रकाशचन्द जी भारिल्लने आजीवन के लिए व्रत लिया कि मैं व्यापारमें भी कभी असत्य न बोलूँगा। इन बंधुओं ने पं० जी ने समाजकी उन्नतिके लिये आदेश रूपमें प्रशस्त प्रयत्न किया वस्तुतः अपना उद्धार का पन्थ पाया। ब्रह्मचर्यमें उत्कृष्ट आत्मीय आनन्द है जिसे स्त्रीसे प्रेम है वह गुरु की पूजा नहीं करेगा स्त्रीकी पूजा तो कर ही रहा है। दो बालब्रह्मचारी बालक पढ़ा करते थे किसी विद्यालय में। पढ़कर जब वे वापिस आये तो बड़े की शादी कर दी गई। वह कुछ विषयभोगों को जानता भी न था इसलिए वह स्त्री से अलग सोता था। मां ने कहा बेटा एक ही घर में सोया करो, फिर कहा एक ही पलंग पर सोया करो। तब लड़के ने मां से पूछा कि मां एक साथ सोने से क्या होता है। मां ने कहा बेटा सन्तानोत्पत्ति होती है। लड़का बोला मां तू बड़ी झूटी है हम दोनों भाई ८ साल तक एकसाथ सोये तब तो कुछ भी न हुआ। मां ने पुत्र की निष्कलंकता पर आह्लाद प्रगट किया। ब्रह्मचर्य परं तपः। ब्रह्मचर्यके समान अन्य कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

तप नहीं है। आत्मध्यान पूजापाठ, विधान आदि बिना ब्रह्मचर्य के हो ही नहीं सकते। भैया! ब्रह्मचर्य भी आत्मविनयके लिये है। अपने आत्मदेव की विनय करो जिससे आत्माकी ओर झुके रहो।

निर्दोष ब्रह्मचर्यके पालने वाले गुरुवों की उपासना कुशील पुरुष कर नहीं सकता, प्रथम तो उसकी हिम्मत ही नहीं हो सकती। पहिले जमानेमें क्षुल्लकोंसे लाभ लेनेके लिये अनेक बालक क्षुल्लक रूपमें रहकर अध्ययन करते थे। गुरुपास्ति हृदयकी वस्तु है। ऐसा हृदय यही गुरुपास्ति कर सकता है जो सुशील हो विनयशील हो। गृहस्थ इन तीनों योग्यतावोंको बढ़ाता हुआ गुरुपास्ति कर्तव्यको निभाकर अपना जीवन सफल करें।

भैया! पन्द्रह दिन पहिले एकमनुष्य आया। उनसे ब्रह्मचर्य लेनेको लोगोंने कहा पर उसने कुछ न मानी। आज पता चला कि भैया! उसकी मृत्यु हो गई है। तो उस देहका क्या ठिकाना? हमें उस अशुचि देहको ब्रह्मचर्य से पवित्र करना चाहिए! यथाशक्ति सर्व सदाचारोंसे अपने आत्म देवकी विनय कीजिये। आत्मविनयी व्यवहारमें भी अविनयी नहीं होता। विनयसे रत्नत्रयकी पूर्ति हो सकती है। विनयकी अनेक श्रेणियां हैं। अन्तमें एक अद्वैत विनय रह जाती है। विनय का जीवनमें सञ्चार कीजिये और सर्व प्रकार सुखी होइये। सर्वगुणसम्पन्न गुरुदेवकी उपासना कीजिये और अपनेको काम, क्रोध, मान, माया, लोभसे हटाएं। सत्य सुख कैसे मिलेगा इसके आदर्श गुरु हैं, गुरुने क्या क्या किया इस बातका पूर्ण ज्ञान गुरुकी उपासना करते हुए गुरुसंगमें रहते हुए सरलतासे हो जाता।

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः॥

—:०:—

स्वाध्याय

गृहस्थोंका तीसरा प्रतिदिन करनें योग्य कर्तव्य है स्वाध्याय स्वाध्यायका अर्थ है स्वः अपना, अध्यायः अध्ययन करना स्वयं के ऊपर विचारना—मनन करना स्वाध्याय है। जीवनें वाह्यमें अपना चित्त चंचल किया, अपना उपयोग रमाया, उसकी चर्चायें कीं और उनकी उन्नति और भलाई के बारे में सोचा विचारा पर कभी अपने आपका स्वाध्याय न किया—अपने आप पर दृष्टि न डाली। दूसरे को तो हम शिक्षा देने चले पर स्वयंको भूल ही गये। हमने अपनी स्वय कभी चिन्ता न की। न ये पदार्थ जिनकी तुम चिन्ता कर रहे हो साथ में आये हैं न ये वर्तमानमें तुम्हारे हैं और न अन्त में साथ जायेंगे। उनका संयोग दुखका कारण है। इनमें हित बुद्धि छोड़ो आत्मा स्वयं में सुखी, निर्विकार है उसका स्वाध्याय करो। यदि ऐसा नरभव पाकर आत्माका कल्याण न किया तो फिर कब कल्याण करोगे। तिर्यंचगतिमें ज्ञान कहां वहां आत्माकी पहिचान होना कठिन है नरकमें तो मारकाट से समय नहीं मिलता वहां पर आत्मा के कल्याण की बात सोचना सिंहके दाड़ों तले आकर प्राण बचाने जैसी बात होगी। अतः वहां स्वाध्याय होना कठिन तो है ही असंभव भी है। देवगतिमें तो विषयभोगोंमें ही चित्त जमता है स्वाध्यायकी बात प्रायः उनके अन्तस्तलको स्पर्श भी नहीं करती। केवल यह नरभव ही ऐसा है जहां जन्म लेकर मनुष्य अपने भूले रास्ते को छोड़ सत्पथपर आ सकता है और स्वाध्यायकर आत्माका कल्याण कर सकता है।

स्वाध्यायका अर्थ शास्त्र पढ़ना मात्र समझना हमारी भूल है जब तक उस ज्ञानक्रिया में हमारे भाव नहीं है तब तक हमारी बाह्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

क्रियाएँ फलवति नहीं हो सकती। एक स्तोत्रमें कहा भी है—

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्या

हमें स्वाध्यायका समय नियत कर लेना चाहिए और प्रतिदिन आधा घण्टे पौन घण्टे स्वाध्याय करना चाहिए। हम शास्त्र पढ़ते हैं यदि चित्तस्थिर नहीं तो वह स्वाध्याय नहीं हो सकता। जिसका विचार हृदय में है हम उसीका स्वाध्याय करते हैं। हमें अपनी आत्माको ही स्वाध्याय का लक्ष्य बनाना चाहिए। ज्ञानमार्गका अग्रणी पथिक बनने के लिये सर्व मूर्च्छाका त्याग प्रथमावश्यक है।

एक ग्रंथ में कहा है "निर्धनत्व धनं येषां मृत्युरेव हि जीवितम्" अर्थात् धनत्यागका आत्माका स्वाध्याय का धर्मपालन करना ही जिन का धन है और मृत्यु ही जिसका जीवन है उनके लिये कर्म कर्म नहीं है। यह संसारकी विपति अनुभव की चीज है। जब उसका कपट समझमें आजाता है तब दिलसे उसी समय वह प्रथक् हो गया परन्तु उसी समय कैसे अपनेको जुदा करे यदि जुदा उसी समय होता है तब उसे आर्थिक हानि सहनी पड़ेगी। समय पाकर जुदा हो ही जाता है। इसी तरह कर्ममें कर्म का साझा है जब भेद विज्ञान हो जाता है तब श्रद्धा से उसी समय इन सब अर्थोंसे जुदा हो जाता है फिर समय पाकर स्पष्ट सर्वथा जुदा हो जाता है। यदि हम भी रागादिभाव त्यागकर भावोंको तोड़ मरोड़ कर उन्हें त्याग दें तो सब विपदा नष्ट हो जाय। निर्धनता और मृत्युका आदर करो, परपदार्थोंसे सम्बन्ध को तोड़ो पदार्थोंसे हम अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं इसीसे हम व्याकुल होते हैं यदि उनसे हमारा और मोह छूट जाय तो दुख भी छूट जाय दुख होता है परके संयोग से। मरणमें भी भय किसीके संयोगके कारण है—जैसे पुत्र-पुत्री स्त्री-पुरुष आदिसे ममत्व से होता है। खेद तो इस बात का है कि जब मर ही रहे हैं तो फिर क्या धन क्या

http://www.jainkosh.org

चेतन पदार्थ और क्या अचेतन कोई साथ तो जाना ही नहीं है—फिर चिन्ता ही क्या ? शास्त्रज्ञान अथवा गुरुपदेशके निमित्तसे उपार्जित ज्ञान ही ऐसा समर्थ है जो दुःखोंसे बचा लेवे।

तीन व्यक्ति शास्त्र सुनते थे। शास्त्रसे प्रवचनसे उनपर प्रभाव पड़ा। उनमें एक था लड़का, एक जवान और एक वृद्ध। तीनोंसे सलाह की कि अगर तुम घर छोड़ दोगे ती हम भी घर छोड़ देंगे और सब पूर्ववत अपने-२ काममें लग गये। एक दिन वृद्धने घरका त्याग करना विचारा उसने सब गृहस्थीधन सम्पत्ति, अपने पुत्र स्त्री भाई को यथायोग्य बांट दिया फिर जवान की दुकानपर आया और कहने लगा। चलो बनको मैं तो सब धर छोड़ आया हूं। युवक बोला चलो शीघ्र ही वृद्ध बोला उठो और पहले लड़कोंको सब हिसाब समझादो युवकने कहा जब छोड़ ही दिया तो अब क्या समझाएं। खेलता लड़का भी रास्तेमें मिला और दोनोंने कहा चला भैया बनको। हम दोनों तो सब छोड़कर चल दिये। लड़का शीघ्र तैयार हो गया। वृद्धने कहा अरे, मांसे तो कह आ। सुन लड़का बोला अरे जब जाना ही है तो क्या कहना और चल दिया बनको उनके ही साथमें। भैया ! जिसने संसारकी मायाको देखा ही नहीं वह जल्दी विरक्त हो सकता है। वे बालक बड़े सौभाग्यशाली है कि फंसनेके पहिलेसे ही विरक्त हो जाते हैं। अभी बरात आ रही थी उसपर चमर ढोरे जा रहे थे—अरे भैया ! देखो तो काम तो कर रहे हैं फंसनेके पर ऊपर चमर ढोर रहे हैं। निवृत्तोंपर चमर देव ढोरा करते थे उनकी नकल आज प्रवृत्तों पर हो रही है।

स्वका जहां अध्याय हो वही स्वाध्याय है। सबकी तो हमने व्यवस्थाकी पर अपनी आत्माकी हमने कोई व्यवस्था न की। यदि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

हमने ऐसे समयमें सम्यग्ज्ञान प्राप्त न किया ? 'पर घर गये बहुत दिन बीते, नाम अनेक धराये"। हम परके (पदार्थोंके) घर तो गये अपने (आत्माके) घर नहीं गये। अनेक गतियोंमें हमने अनेक नामों को धराये हैं। इस आत्माने नारकी, पुरुष, देव पशु आदि अनेक नामोंको पाया है।

एक आदमी विलायतसे घर आया। उसे जैसे जवाहर गंज जबलपुरमें आना है। जब वह वहांसे चला लोगोंने पूछा बाबूजी! कहां जाओगे। हिन्दुस्तान—बाबूजी ने उत्तर दिया। जब वह युवक हिन्दुस्तानमें आया और उससे गन्तव्य स्थान पूछा गया तो उसने मध्यप्रांत अपना गंतव्य स्थान बताया। जब मध्यप्रान्तमें आया तब उसका स्थान और भी सीमित हो गया जबलपुर उसे आना है। जब जबलपुर आगया तब रिकसेवालेके पूछने पर मनुष्यने गन्तव्य स्थान जवाहर गंज बताया और फिर अपने घरका नम्बर बताते हुये युवक ने रिकसे वालेको खड़े करनेके लिए कहा अपने घर पर आकर युवक एक कमरेमें आरामसे बैठ गया। कहनेका अर्थ यह कि ज्यों-ज्यों हम परको छोड़ते हैं त्यों-२ हम अपने घरके पास आते हैं। जब हम सब छोड़ देते हैं तब अपने घर आकर सुख आनन्दसे आराम करते हैं। भैया! उसी प्रकार जब हम परपदार्थोंसे अपना सम्बन्ध बिल्कुल छोड़ देते हैं तब हम अपने आत्माको प्राप्त करते हैं और उसमें रमण कर आनन्द प्राप्त होता है। स्वाध्यायसे ही आत्मामें आनन्द आता है।

हमें बाह्यविलायतसे चलकर आभ्यन्तरमें आना चाहिये। सबसे पहिले हमें बाह्य धातुवों की मूर्छा का त्याग करना चाहिए दूसरे चेतन परिग्रहका परित्याग, तीसरे जहां हमारा सम्बन्ध है ऐसे शरीरसे मूर्छाका त्याग, चौथे रागद्वेषादिसे विभक्त निजका विचार,

पांचवें प्राप्त बुद्धिसे भिन्न स्वभावके विचार, छटे पूर्णज्ञान परिणति से विलक्षण ध्रुव स्वभावका विचार करना, सातवें विशुद्ध ज्ञानकी दृष्टि, आठवें ज्ञान शक्तिकी दृष्टिकी दृढ़ता, सबें अपने ही ज्ञानमें लीन होना। इस प्रकार बाह्यसे अन्तरङ्गमें आना चाहिये। आत्मा का अध्ययन करना निश्चय स्वाध्याय है और ग्रन्थोंका पढ़ना है व्यवहार स्वाध्याय क्योंकि ग्रन्थों के निमित्तसे आत्मा का मनन होता है।

हमें शास्त्ररूपी समुद्रमें से क्या निकालना है? चैतन्यरत्न। जैसे सारे समुद्रमें डुबकी लगाते फिरो और लक्ष्य शून्य होनेसे वहांसे कुछ भी हाथ न लेकर बाहर निकल आये तो वह केवल परिश्रम करने वाला ही रहा फल कुछ प्राप्त नहीं किया समय व शक्तिका दुरुपयोग किया। इसी प्रकार समस्त शास्त्रोंका अवगाहन करने पर भी लक्ष्य शून्य होते कुछ भी हाथ नहीं आवेगा। क्षयोपशमिक व्यक्त यह बुद्धि इस भवमें छूटेगी। शास्त्रमें से हमें चैतन्यरत्न निकाल लेना चाहिये। यह भी व्यवहार भाषा है शास्त्रज्ञान नहीं है उसमें चैतन्य रत्न नहीं रखा। हम ज्ञानमय हैं हममें चैतन्यरत्न है, इस चैतन्यको प्राप्त करनेका ध्यान रखें जिनबाणी गुरुवचन बांचकर सुनकर भी। इस चैतन्यमें पुण्य पाप की वृत्ति नहीं है मात्र अशुद्ध अवस्थामें परकी उपाधिका यह विकार प्रतिभास है इससे कहीं चैतन्यका स्वरूप नहीं बिगड़ता। इस चैतन्यमें परपदार्थोंका तो अभाव है ही और शरीर मन वचन इन परपदार्थोंका भी अभाव है रागद्वेषवृत्ति व अपूर्णविकासका भी स्वभाव नहीं है पूर्णविकासमें भी यह विकासरूप नहीं किन्तु ध्रुव-स्वलक्षणात्मक है।

जिस भाषाके जिस ग्रन्थको समझो उसे ही पढ़ना चाहिए। बड़े-२ ग्रन्थोंका अब तो हिन्दी भाषान्तर हो गया है उनका अध्ययन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

करना चाहिए जिससे आत्मामें शान्ति बनी रहे। एक भैया थे, वे स्वाध्याय करने गये। पहला ग्रन्थ उठाया वह तत्वार्थराज वार्तिक, संस्कृत का निकला और उसे बांधकर रख दिया दूसरा उटाया वह भी संस्कृत का ही था समझते सर्वार्थसिद्धि तीसरा उठाया वह भी संस्कृतका ही था। सो भैया उसे वहीं धीरे से पटक दिया और कहा धरे तो रहो यही तो तुम में दोष है! सो भैया ऐसा स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। जो समझमें आवे उसीका अध्ययन करना ठीक है. "राजा राणा छत्रपति" आदि छोटे बच्चों को तो हम रटाते हैं पर जिन वृद्धोंके पढ़ने और समझनेकी चीज है वे उस ओर ध्यान ही नहीं देते। उममें आने वाले कहानी किस्से अपने पर घटाना चाहिये! "गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत" को समझकर सदा आत्म-कल्याणके उपाय करना चाहिए। कहीं हमारी जन्म लेते ही, बचपन में ही, युवावस्थामें ही मृत्यु हो जाती तो हम ऐसा मौका कैसे पाते ऐसा सोचकर और कि कहीं कल ही हम मर जायें तो धर्म क्यों छोड़ा ऐसा भी समझकर आत्मतत्वका चिन्तवन करना चाहिए।

भैया एक पौराणिक वार्ता है—जब पाण्डव वन गये वहां उन्हें प्यास लगी। सबसे पहिने सहदेव पानी भरने एक तालाब पर गये—तब एक देवताने पूछा पहिले यह बताओ कि संसारमें सबसे आश्चर्य की बात क्या है। तब पानी भरना सहदेव उत्तर न दे सके और वे लौट आये फिर नकुल गये फिर भीम फिर अर्जुन कोई उस प्रश्नका उत्तर न दे सका अन्तमें युधिष्ठर गये। उनसे भी वही प्रश्न पूछा गया कि "संसारमें सबसे आश्चर्यकी बात क्या है? युधिष्ठरने उत्तर दिया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीति यम मन्दिरम्।
शेषाः जीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

http://www.jainkosh.org

अर्थात् प्रतिदिन प्राणी यमलोकको सिधार रहे हैं उन्हें मरते हुये देखकर भी शेष प्राणी जीनेकी इच्छा करते हैं इससे अधिक आश्चर्य और क्या हो सकता है! अरे मृत्यु तो हमारे मस्तक पर नाच रही है। बच्चे घरकी डरबतियोंसे उत्पन्न पानी का बबूला यदि थोड़ा ही ठहर जाय तो वे आश्चर्यके साथ कहते कि हमारा बबूल अधिक समय तक ठहर गया। पर भैया? इस नशवा शरीर पर हमें बिल्कुल भी आश्चर्य नहीं हो सकता जब लोगों से पूछते हैं उनकी आयु तब कहते हैं—मैं ४० वर्ष का हो गया। पर वे इस पर ध्यान नहीं देते कि हम ४० वर्ष मर चुके और कब तक जियेंगे उसका कोई भरोसा नहीं। प्रतिपल कम होती जा रही है जैसे आरे से प्रति समय काठ कटता जाता है वैसे ही हमारी आयु भी कम होती जाती है। जब ऐसी असारता जगत में है तो उसे त्याग कर स्वाध्याय की शरण लेनी चाहिए और आत्मा कल्याण करना चाहिए। स्वाध्यायः परंतपः।

संसारमें अज्ञान दुख का कारण है और एकमात्र सम्यग्ज्ञान सुख की खान है। संसार के प्राणी जो कुछ सुख और ऐश्वर्य पाते हैं वह केवल ज्ञान के द्वारा ही पाते हैं। ज्ञान के महत्व और उप-योगिता को भूलकर मनुष्य विवध विषयभोगों, सुख सामग्रियों आदि को पाने का लक्ष्य बनाते है पर उसे प्राप्त करना भूल जाते हैं जिसके द्वारा उन्हें सब कुछ प्राप्त हो सकता है। अनुभव से सभी जानते हैं कि विविध विषयों की प्राप्तिका इच्छुक आकुल एवं दुखी रहता है। पदार्थ के स्वरूपका जैसा तैसा सम्यक जानना सम्यग्ज्ञानहै किस पदार्थकी कैसी स्थिति है, कैसा स्वभाव है उसमें क्या शक्तियाँ विद्यमान हैं आदि का एवं स्पष्ट ज्ञान ही जाना सम्यग्ज्ञान कहलाता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है। पदार्थ किसे कहते हैं ? जो निज स्वभावकी सत्ता में ही रहे, निज में ही परिणमन करे और अन्यकी सत्ता से दूर रहे उसे कहते हैं पदार्थ। जो बढ़े, और जो स्थिर रूप हो वह पदार्थ है। जैसे—आपका आत्मा जैसे का तैसा है, वह सत् रूप है और स्थिर है। उसकी परिणति स्वयं में होती है पर पदार्थोंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं, न वह परपदार्थों अपने प्रभावसे नहीं होता है, वह शुद्ध, सत्‌चिन्मात्र, और ध्रौव्यगुण सहित है वह जैसी की तैसी है अतः आपका आत्मा पदार्थ है। ऐसे ही संसारकी सब आत्माऐं अपनी स्थितिमें स्थित है अत. वे भी स्वतन्त्र पदार्थ हैं।

संसारमें जितने भिन्न भिन्न परिणति वाले हैं वे उतने पदार्थ हैं और जितने भी पदार्थ हैं वे स्वयं की भिन्न भिन्न परिणति रखते हैं। जिन भिन्न भिन्न पदार्थोंकी परिणति कभी एक ही नहीं हुई है वे भिन्न भिन्न एक एक पदार्थ कहलाता है। चौकी एक पदार्थ है—(रूप है) स्कन्धसे वह बनी है। स्कन्धमें जो एक एक अणु है वे स्वयं में परिणमते हैं एवं सत रूप है। दिखनेमें आने वाले जितने भी स्कन्ध है। उसके अणु स्वयं में परिणमते रहते हैं। अतः वे सब पदार्थ हैं। जीव पुद्‌गल धर्म अधर्म आकाश और काल ये ६ जातिके पदार्थ हैं जीव पुद्‌गल तो अनन्त हैं। इनके एक के परिणमनसे दूसरेका परिणमन नहीं होता, सभी एक अपने अपने स्वभावमें ही रहते हैं यदि ऐसा न होता। तो द्रव्य ही नहीं रहता और न कुछ ही रहता। पदार्थ जैसा है वैसा जानना सम्यग्ज्ञान है। आत्माके गुण आत्मामें ही परिणमते है अपने स्थानको छोड़कर दूसरे स्थान पर नहीं जाते न दूसरेको परिणमाते हैं या दूसरे रूप परिणमते हैं। कोई किसीको परिणमाता नहीं, कोई किसीका स्वामी नहीं होता सभी स्वतन्त्र और निश्चल है ऐसा ज्ञान वा सम्यग्ज्ञान है। इसके विपरीत यह जानना

कि पदार्थ एक दूसरेको परिणमाते हैं उनकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, मैं उनका करने वाला हूं, ये मेरे हैं, ये मेरे हितकारी हैं, ये मुझे दुख देते हैं आदि रूप बुद्धि करना मिथ्याज्ञान है आत्मामें कर्तृव्य बुद्धि रखना, संसारके पदार्थोंको उनके स्वरूपसे विपरीत जानना सम्यग्ज्ञान नहीं है। जो जीव सम्यक्त्व सहित हैं वे भवसागरसे पार हो जाते हैं और जो सम्यक्त्व रहित हैं वे भवसागरमें गोते लगाया करते हैं। संसार माया मोह है, क्षणिक और नश्वर है, सारहीन है यह अनुभवसे जान लिया गया है वह अस्थिर है।

बहती हुई सरितामें उसे पार करनेका सहारा मिल जाना सौभाग्यकी बात है। उस संसार सागरसे पार होनेके लिऐ हमें मनुष्य देहका सहारा मिला है इसे पाकर व्यर्थ नहीं खोना चाहिए। यह आत्मा अनादिसे यत्रतत्र भटक रहा है, चारों गतियोंके दुख भोग रहा, अपने परिणाम विकल कर रहा है—उसे अब ऐसा अवसर पाकर खो न देना चाहिए। अब हमने बुद्धि और विवेक पाया है। शुभ क्रिया करनेके लिए समर्थ देह भी प्राप्त की है मन-वचन काय से भी हम समर्थ हैं। अपने विचार हम दूसरेसे कह सकते हैं और दूसरोंके विचार हम सुन समझ सकते हैं अतः अब आत्मन्! तुझे जाग जाना चाहिए। एक तो मनुष्य देह मिलना कठिन है और फिर कठिन है स्वस्थता—फिर ऊंचा कुल और फिर अच्छा धर्म मिलना कठिन है पर तुम्हें सब कुछ प्रदान है। अतः अब अपना कल्याण करना चाहिये। इस श्रेष्ठ मनुष्य देह को सम्यग्ज्ञानके लिए लगाना चाहिये। अगर ऐसी अवस्थामें हमने सम्यग्ज्ञान न पाया तो समझो कुछ न पाया। आत्माका वैभव है सम्यग्ज्ञान हमें इस वैभव और विभूतिका आदर करना चाहिये तभी इस नरभवकी सफलता है। अगर हमने यह सब न किया तो समझो हमने चिन्तामणि पाकर एक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कौवाको उड़ानेके लिए फेंक दिया और अमृतसे भरे घड़ेको पाद प्रक्षालनके काम ले लिया।

हम मन्दिरमें आकर या सामायिकके समय प्रतिदिन बारह भावनाऐं पढ़ते हैं। जिनमें पहिली भावना है—

राजा राणा छत्रपति, हाथिनके असवार।
मरना सबको एकदिन, अपनी अपनी बार॥

यह तो निश्चित ही है कि जिसने संसारमें जन्म लिया है वह एक दिन अवश्य मरेगा। कोई यहां अमर होकर नहीं आया। पर हम सम्यग्ज्ञान पाकर अजर अमर हो सकते हैं। चाहे कोई राजा हो और चाहे छत्रधारी हो और हाथी घोड़ा पर सवारी करने वाला हो, चाहे बली हो या निर्बल, धनी या निर्धन, ब्राह्मण या वैश्य या हो जैन सभी को काल बलीसे हार जाना पड़ा है। अत. संसार अनित्य है और संसारमें रहने वाली सब वस्तुऐं भी अनित्य हैं। इनसे हमें अपनी आत्माकी प्रवृत्ति अलग रखना चाहिए। अरे मृत्यु होती है शरीरकी पुद्गलकी अजर-अमर आत्मा कभी नष्ट नहीं होती। यदि हम आत्मा पर दृष्टि कर लेंगे तो पर्याय भी अमर ही बनेगी और उसकी फिर मृत्यु नहीं होगी। जैसेको देखोगे वैसे हो जाओगे। यदि अमर आत्मापर दृष्टि स्थिर रखोगे तो अमर हो जाओगे और क्षणिक शरीर पर दृष्टि रखोगे तो नश्वर हो जावोगे। जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि। जगतमें भ्रमण करना न करना अपने हो ज्ञान पर निर्भर है अन्य दूसरी वाह्य अवस्थाओं पर नहीं। जो कुछ करते हैं सब हम ही तो करते हैं। अतः हम अपने आपको सम्यग्ज्ञान द्वारा अमर कर सकते हैं।

दलबल देवी देवता मात पिता परिवार।
मरतीविरियां जीव को कोई न राखन हार॥

http://www.jainkosh.org

बड़ी बड़ी सेनाऐं, नामी पहलवान, अनेक देवी और देवता तथा परिवार के माता पिता ये सब जीवके लिए शरण नहीं है। कालसे जीवको कोई भी नहीं बचा सकता। यन्त्र, मन्त्र भी मरनेसे नहीं रोक सकते। इस संसारमें न तो जीवको आजतक कोई शरण हुआ है और न होगा। इतना सब कुछ हम जानते हैं समझते हैं और प्रतिदिन जोर जोरसे पढ़ते पर हम इस संसारको क्षणिक, नश्वर एवं स्वप्नवत् क्यों नहीं मानते ? हमें इसमें क्यों आस्था है ? क्यों इसमें शान्तिका भ्रम बना है ? इसी तरह सब भावनाओंमें देखो परकी बुद्धि छोड़कर निजमें आना ध्येय है। अरे! एक चैतन्यमात्र आत्मा का ध्यान करो, उसीमें अपनेको रमाओ तुम्हारी सब चिन्ताऐं सब विपदाऐं नष्ट हो जाऐंगी। एक आत्माको जानकर हम सब सुख ऐश्वर्य, शान्ति, सन्तोष पा सकते हैं और यदि हमने अपने मनको सबकी प्राप्तिमें लगाया तो कुछ भी हमने न पाया। एक ही की प्राप्ति करना श्रेयस्कर है। एक हिन्दीके कविने भी कहा है—

एके सावै सब सधै, सब साधै सब जाय।
एकै सींचे मूल को, फूले फले अधाय॥

अर्थात् सब सुखोंकी मूलरूप आत्माका ही चिन्तन करना चाहिए। एके अङ्कके ऊपर एक शून्य रखनेसे अङ्क दश गुना हो जाता है। इसी प्रकार शून्य रखते २ हजार और लाखोंकी संख्या हो सकती है किन्तु यदि भूलमें एक न हो तो सब शून्य ही बचे। हजारों लाखों की संख्या सब शून्यमें परिणत हो जाय। एक आत्माके जाने बिना जीव ठिकाने पर या सन्मार्ग पर नहीं आसकता। अनन्त आत्मा, अनन्त अणु धर्म, अधर्म आकाश और अख्यात काल ये स्वतंत्र हैं। आत्मा स्वयं स्वतन्त्र है, अणु स्वतन्त्र है, धर्म स्वतन्त्र है—और सभी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

स्वतन्त्र हैं। ये सब स्वयं स्वतन्त्र हैं, किसीका सहारा नहीं चाहते अत: असहाय है, किसीका आलम्बन नहीं लेते अत: अनालम्बी है, किसीका आश्रय नहीं लेते अत: अनाश्रयी है। आकाशमें जीव नहीं है और न जीवमें आकाश है जीव जीवमें है आकाश आकाशमें है। अणु अणु में है और आकाश आकाशमें। वे स्वयं स्वत: पूर्ण हैं—स्वतन्त्र हैं। जीव और आकाश में आधाराधेयका सम्बन्ध भी नहीं है। दोनों अपने अपने प्रदेशों में रहा करते हैं। ऐसे उनके निरपेक्ष और स्वतन्त्र होते हुये भी हम जड़ों में अपने पनको कल्पना करते हैं, उन्हें अपना बनाते हैं यह खेद की बात है।

आत्मा स्वयं विषय है और स्वयं को ही विषय करता है जब वह परपदार्थोंका विषय करता है तब उसका वह विभाव होना है—स्वभाव नहीं। निर्मल की दृष्टि से निर्मलता आती है। यदि किसी से प्रेम करोगे तो प्रेम बढ़ता ही जावेगा और यदि विरक्ति बढ़ाओगे तो आत्मा में विरक्ति आती जायगी। जो जिसमें जैसे भाव करता हैं उसके वैसे ही भाव पुष्ट होते जाते हैं। सुख और आराम से जिनका जीवन व्यतीत होता है उन्हें सदा यह दुखका भय रहता है कि हमारी रक्षा कैसे होगी? हमारा अब काम कैसे चलेगा? यदि मनुष्य जन्म पाकर मन पर शासन न किया तो मानो हमने मणि सागर में डुबो दिया हां? मणि का मिलना तो सम्भव है और समुद्र से एक के बदले अनेक मणि प्राप्त किये जा सकते हैं परन्तु यह मानव यह उत्तम कुल और ऐसा पवित्र धर्म पानेका अवसर फिर कभी हाथ न आयेगा अथवा बड़ी कठिनता से प्राप्त होगा मणि वह सत् है और मिल सकता है। पर नरभव का व्यय हो गया अत: बीतने पर नहीं मिल सकना। अत: नरभव पाकर कल्याण करना चाहिए हां निर्मल परिणाम बने रहेंगे तो अन्य नरभव मिलेगा वहां रत्नत्रय की पूर्णता

करके सर्वसिद्धि प्राप्त होगी।

जबसे धर्म और ज्ञान का प्रवेश हुआ तभी से जीवन प्रारम्भ होना जानना चाहिये बिना धर्म और बिना ज्ञान के भी कोई जीवन है—वह अन्धेरा मात्र है। एक साधु सेठ के घर आहार के लिये १० बजे आये। सेठ की बहू ने पूछा—साधुजी आप इतने सवेरे क्यों आ गये? साधु ने उत्तर दिया—समय का ध्यान नहीं था। साधु ने बहू से पूछा तेरी आयु क्या है? ५ वर्ष बहू बोली। और तेरे पति की! साधु ने फिर पूछा। ५ माह बहूने उत्तर दिया। तुम्हारे सुसर की क्या आयु है साधु ने पुन: पूछा। अभी पैदा ही नहीं हुये—बहू उत्तर में बोली। साधु बोला—बहू तुम भोजन ताजा खाती हो या बासी! बासी खाती हूं बहू बोली। यह सुनकर साधु आगे बढ़ गया सुसर ने बहू से कहा क्यों बहू तुमने साधु से झूठी बातें क्यों कहीं? नहीं मैंने सब सच कहा है। मैंने कहा तुम इतने जल्दी क्यों आ गये? इसका अर्थ इतनी कम उम्र में क्यों आये? तब साधु जी ने कहा कि आयु की खबर नहीं कितनी हो मुझे पांच वर्ष के पहिले कुछ ज्ञान नया विवेक न था मैं अन्धेरे में थी। मुझे अपने जीवन की सुध बुध न थी पांच साल पहिले ही मुझे अपनी अवस्था का व धर्म की प्रवृत्ति करने का ज्ञान हुआ इस प्रकार मेरी आयु पांच वर्ष की है। मेरे पिता को मेरे बाद में ज्ञान और विवेक हुआ। अभी पांच माह पहिले ही उन्हें आत्मा का और शरीर का कोई अन्तर विदित न था। वे धर्म कर्म कुछ न जानते थे। अत: उनकी उम्र पांच माह की है। और सुसर को तो अभी ज्ञान न आया, धर्म अधर्म को न पहचानना, उन्हें यह भी ज्ञान न हुआ कि आत्मा अजर अमर है उसका न शरीर है न वह स्त्री है न पुरुष न धनी न निर्धन आदि अत: मैं तो यही समझती हूं कि उनका अभी जन्म ही नहीं हुआ। वैसे तो यह आत्मा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनन्तानन्त कालसे भर रहा है अतः इसकी आयु तो अनंत वर्षकी है। समय बीतने से आत्मा बुद्धि या जीर्ण नहीं होती शरीर जीर्ण होता है नष्ट होता है इसलिये जो आयु बीतगई सो बीत जाने दो उसके बारेमें चिन्ता करना वथा—अरे। अब तो हमें बची आयु को सम्भालना है। अतः जब से हमारा धार्मिक ज्ञान जागता है हम जैसे का तैसा पदार्थों को जानने लगते हैं जबसे ही हमारा जीवन प्रारम्भ होता है। हमें नरभव सुधारने का प्रयत्न करना चाहिये। हमें अपनी आत्म-रुचि जगानी चाहिए, शुद्ध दर्शन ज्ञानकी ज्योति आत्मा में जलानी चाहिए। जिस ज्ञान की खोज हम यहां वहां करते हैं उसे अपने में ही खोजना चाहिये। और वासी भोजन करती हूं का तात्पर्य यह कि जो नरभव में कमाया पुण्य है उसके ही कारण भोगपदार्थ मिलते हैं और जो अब करते हैं वह अगले भवमें मिलेगा। कितना विचार इसका है। जिस दिन स्वपर विवेक पैदा हुआ वही जीवन का प्रारम्भ है और अन्य सब अंधेरा है। ज्ञानी जीव प्राप्त संयोग में अपनी कुछ भी हित नहीं समझता। तथा सम्यग्दृष्टि जीवको इस लोक का भय भी नहीं होता। अब तो मरण आपका लगा रही है सम्पत्तिदान यज्ञ भी प्रारम्भ होने वाला है सो अब तो और अधिक अच्छा अवसर है कि मूर्च्छा दूर करे युद्ध होने की सम्भावना में मेरा गुजारा कैसे होगा? मैं सुखी कैसे रहूंगा? आदि विकल्प सम्यग्दृष्टि जीव की आत्मा में नहीं उठते उसे इनसे लेशमात्र भी भय नहीं होता। उसे मृत्यु होने का भय नहीं क्योंकि वह जानता है कि आत्मा अजर-अमर है इसे शस्त्र नहीं काट सकते, अग्नि जला नहीं सकती, इसे पानी गला नहीं सकता और न इसे वायु ही सुखा सकती है। इसी बात को व्यास जी ने गीता में पुष्ट किया है—

नैनं छिन्दति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।

http://www.jainkosh.org

नैनं क्लेदय त्यापः नैनं शोषति मारुत. भागवत॥

वह यह भी सोचता है कि मेरा यही चैतन्य भाव तो इह लोक व परलोक है। उसे धन की भी कोई चिन्ता नहीं क्योंकि यह आज तक न किसी के साथ गया है और न किसी के साथ जायगा। मैं चेतन हूँ यह धर्म अचेतन है मेरा इसका सम्बन्ध ही क्या? ऐसा वह विचारता है। उसे आकस्मिक आपत्तियों और विपदाओं—जैसे भवन से गिर जाना आग लग जाना आदि से भी भय नहीं होता वह अपने को आत्मभूत सत् मानता है अविनाशी तथा अनन्त चतुष्टय-युक्त मानता है। मेरे ज्ञान दर्शन ही प्राण हैं। मैं किसी का कोई न मेरा—मैं चैतन्यमात्र हू मेरा अन्य से कोई सम्बन्ध नहीं ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव स्वयं को जानता है। वह जीव ही संसार सागर पार करते हैं।

नरभव पाकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो, एक मात्र सार वस्तु आत्मतत्व को पहिचानो, संसार के समस्त पदार्थों से मोह ममत्व को हटाओ—यही इसका साथ करता है। ज्ञानदर्शनमय आत्म तत्व की उपलब्धि का यही अवसर है उसे ऐसा उत्तम साधन पाकर प्राप्त करना चाहिए।

जगत में जितने जीव हैं वे सदा जितने भी कार्य या क्रियायें करते हैं उन सबका एकमात्र उद्देश्य होता है प्राप्त करना। कवि दौलत रामजी ने भी जीव को सुख पाने की प्रवृत्ति का "जेत्रिभुवन में जीव अनन्त सुख चाहें दुखतें भयवन्त" कहकर संकेत किया है। पर इस जीव ने आज तक लेशमात्र भी वास्तविक सुख प्राप्त न किया जिन स्वप्नों को इसने सुख माना वे सांसारिक हैं, क्षणिक हैं। उन सुखों में दुखों का आह्वान है और वे सुख अशान्ति एवं आकुलता बढ़ाने वाले हैं। आकुलतामय ही उनका स्वरूप है। उस भ्रमण करते

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जीव को आजतक सुख क्यों नहीं मिला एकमात्र इसका कोई कारण है तो यह कि सम्यग्ज्ञान का अभाव। उस दुखी जीव पर गुरु ने दया करके सुख पाने के साधन भी बताये पर मोह मदिरा से मूर्छित जीव ने कोई ध्यान न दिया। सुखी होने का उपाय यही है कि हमारे ज्ञान में या समझने में यह आजाय कि संसार के समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूप से स्वयं स्वतन्त्र है और है स्वयं में स्वतः पूर्ण। मैं, चैतन्य गुणोपेत चिन्मात्र ज्ञान दर्शन ही जिसका स्वभाव है ऐसी आत्मा स्वयं में स्वतन्त्र हूं स्वयं में पूर्ण हूं, मेरी एक निजी सत्ता है। मैं इन पदार्थों से भिन्न और अपने स्वरूप से अभिन्न हूं। वैसे ही ये अन्य पदार्थ जो मैं हूं ऐसे मुझ से भिन्न है परन्तु वे स्वयं अपने स्वरूप से अभिन्न हैं। मेरे न ये हैं और न मैं इनका हूँ। अरे! इनका मेरा इनका सम्बन्ध ही क्या? मैं कहां चेतन, अनन्त गुणों का भण्डार और ये पदार्थ अचेतन और जड़। मैं स्वतः स्वयं में प्रतिसमय परिणमन करता रहता हूं मेरे परिणमन में कोई कारण नहीं है। वैसे ही ये पदार्थ स्वतः स्वयं में परिणमते रहते हैं—मैं इनका क्या करता हूं। देखो भैया! "होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।"

पर यह जीव निरवरत यही करता रहता है कि यह पुत्र मेरा है, यह स्त्री मेरी है, यह मकान मेरा है आदि अनेक पदार्थों को अपना बनाया करता है और उनके प्रति कर्त्तृत्वभाव रखता है। अन्य की तो बात ही क्या? यह हमारा कहा जाने वाला शरीर भी हमारा नहीं है—अन्त में यह भी साथ छोड़ देगा। आत्मा की ही अकेला जाना होगा। अतः जब तक हमने परपदार्थों को और स्वयं को अलग-अलग न समझा तब तक वह आत्मिक सुख वास्तविक सुख भी अलग रहेगा। आत्मा में विद्यमान जो अनन्त सुख है वह तो

प्रकट होने के लिये तैयार ही है—हम ही तो विषयों में फंसकर, अन्य पदार्थों से मोह बढ़ाकर—उसे प्रगट नहीं होने देते। फिर भी हम सुखी होना चाहते हैं वह आश्चर्य की बात है। यदि सुखी होना है तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और अपना-पराये का अन्तर न समझते हम पदार्थों को अपना समझते हैं यही दुःख का कारण है।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सत् है और अन्य के द्रव्य क्षेत्र-काल-भाव से असत्। वैसे ही यह आत्मा अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा सत् है और अन्य पदार्थों के द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से असत् है। पदार्थ और आत्मा का परिणमन अपने में और अपने ही कारण से होता है। कोई किसी में परिणमन करानेकी शक्ति नहीं है। संसार में जितने भी कार्य या परिवर्तन होते हैं वे स्वयं के परिणमन से ही होते हैं। मैं न किसी का कर्त्ता हूं और न भोक्ता तथा मैं किसी का स्वामी भी नहीं हूँ। और न मेरा ही कोई करने वाला है। मैं सबसे न्यारा हूं ऐसा अन्तर से ज्ञान हो जाना ही तो सुख का मार्ग है, और सुख ही को यह जीव चाहता है—परन्तु वह जैसा चाहता है वैसा चलता नहीं। यदि यह सब उसे बोध हो जाता तो फिर अवश्य सुखी हो जाता।

राग का विनाश होने से दुख का भी विनाश हो जाता है और सुख का संचार आत्मा में होता है। लोग सुख पाने का प्रयत्न करते हैं पर सुख का स्वरूप वे नहीं जानते—वे आत्मा का भी स्वरूप नहीं जानते। जिसे आप चाहते हैं उसे जब आप जानते ही नहीं तो भैया! फिर उस सुखको कैसे पाओगे। वह सुख जिसे संसार चाहता है सांसारिक पदार्थों में नहीं है—जिनमें कि मनुष्य ढूढ़ते हैं। वह सुख किसी और में नहीं स्वयं तुम में ही विद्यमान है जरा अपनी आत्मा में तो झांको उसे तो टटोलो।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जो लोग ईश्वर को कर्ता धर्ता मानते हैं वे कहते हैं कि अरे ! ईश्वर को यही स्वीकार है कि मैं दुखी रहूं तो फिर मरने से क्या लाभ है। ईश्वर ने ही मुझे सुखी या दुखी किया है ऐसा वे मानते हैं। जो पुण्य कर्म को कर्ता मानते हैं उनका भी कभी यही कहना है कि हमारे कर्म में ही सुख दुख भोगना लिखा है इसमें हमारा क्या वश है ? पर उन्होंने गहराई से विचार नहीं किया कि वे कर्म स्वयं हमने ही तो किये हैं और जैसे अब हम करेंगे भविष्य में वैसा ही भरेंगे। तथा वस्तु स्वरूप को यथार्थ देखो तो कर्म आत्मा दोनों भिन्न भिन्न हैं ऐसा पदार्थों का स्वभाव है। और जब तक कर्म या ईश्वर को हम अपने सुख और दुख के कर्ता समझते रहेंगे तब सुखी होना उसी प्रकार है जैसे अपनी झोपड़ी में ताला लगाकर यह सोचना कि मैं तो सुरक्षित हूं कर्म का सुख दु:खादि का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है।

लोग कहें कि इन्हें चौकी ने बैठाया परन्तु देखा जाय तो मुझे चौकी ने नहीं बैठाया हां मेरे बैठने में चौकी निमित्त अवश्य हम मान सकते हैं। किसी पदार्थ को कोई पदार्थ कुछ नहीं कर सकता। पदार्थों से राग बढ़ाया संयोगाधीन दृष्टि की और जब हमने वस्तु का स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं पहिचानी तो हमें सुख मिल ही कैसे सकता है।

एक लड़का बीस हाथ दूर खड़ा है और दूसरा लड़का उसके सामने कभी हाथ मटकाता तो कभी अंगुलियां और कभी आंखें। वह लड़का ऐसा देखकर चिड़ता है और अपने में दुखी होता है। अन्य दूसरे मनुष्य भी लड़के के पास खड़े हैं पर उनको तो देखकर दुख नहीं हुआ। उस लड़के और यहां खड़े पुरुषों में यही तो अन्तर है कि लड़का समझता है कि यह हमें चिढ़ा रहा है परन्तु पुरुष उससे अपना कुछ सम्बन्ध नहीं समझते हैं तब तक दुख और जब हमने

http://www.jainkosh.org

अपनी आत्मा से यह भाव निकाल दिया समझ लो अब हम सुखी हो गये। सुखी होने के लिये यह बोध होना चाहिये कि पर का निज से कुछ सम्बन्ध नहीं है। निजको निज, परको पर जान फिर दुख का नहीं लेश निदान" अर्थात् फिर तुम्हारे पास कोई दुख ही नहीं रहेगा। जब एक को निमित्त पाकर लड़का चिढ़ रहा है यदि यहां से कोई अज्ञानी निकल पड़ा तो चिढ़ाने वाले से कहेगा क्यों भैया ! क्यों चिढ़ाते हो इसे, और यदि वहां से ज्ञानी पुरुष निकला तो कहेगा। अरे भैया ! तुम क्यों चिढ़ते हो ? सुख और दुख में ज्ञान और अज्ञान ही कारण है। जहां ज्ञान है वहां सुख है और जहां अज्ञान है वहां है दुख और अशान्ति ! जो सत् है वही उसका स्वामी है अर्थात् आप स्वयं अपने स्वामी हैं। प्रत्येक अणु की और प्रत्येक आत्मा की यही व्यवस्था है। स्वरूप को न जानने वाले ही निमित्तमें दोषारोपण करते हैं। अज्ञानी संसारी जीव निमित्त को ही सब कुछ मानता है। संसार में भी ऐसी व्यवस्था से कष्ट और दुख भोगना पड़ते हैं। एक आदमी बरसात में एक सड़क पर बाईं ओर से जा रहा था कि रास्ते में दाईं ओर की दीवाल गिर पड़ी। उसने जाकर न्यायाधीश के पास कहा—मैं आ रहा था कि दूसरे ओर की दीवाल गिर पड़ी और कहीं मैं उस ओर होता तो मर जाता कि नहीं। उस कच्चे मकान वाले बनिये को उसका दण्ड मिलना चाहिये। न्यायाधीश ने बनिये को बुलाया और कहा तुमने इतनी कच्ची दीवाल क्यों बनाई कि वह बरसात में गिर पड़ी। बनिये ने उत्तर दिया—महाराज ! इसमें मेरा कोई अपराध नहीं। बनाने वाले कारीगर ने कच्चा बना दिया मैं क्या करूं ? ऐसा सुनकर न्यायाधीश ने कारिगर को बुलाया। कारीगर ने कांपते हुये हाथों को जोड़ते हुये कहा—इसमें मेरा कोई अपराध नहीं— गारा बनाने वाले ने इतनी गीली

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गारा बनादी कि मकान गिर गया। इसमें मेरा क्या दोष ? न्यायाधीश ने पानी डालने वाले भिस्ती को बुलाया और कहा क्यों तू ने इतना गीला गारा बनाया कि दीवाल कच्ची रह गई और मकान गिर गया। भिस्ती नम्रता से बोला—न्यायदाता ! राजा साहब की सवारी बड़ी सजधज के साथ वहां से निकाली। जनता देखने दौड़ी जा रही थी। मैं भी आखिर मनुष्य ही ठहरा देखने की इच्छा हुई जल्दी जल्दी में पानी अधिक पड़ गया होगा। महाराज ! न्याय दो इसमें मेरा कोई दोष नहीं। यह सुनकर न्यायाधीश ने आज्ञा निकाली और फैसला सुना दिया कि राजा को फांसी की सजा दी जाय। उसे क्या यह पता नहीं था कि यहां मकान बन रहा है और हम यहां से जावेंगे तो लोग हमें देखने आयेंगे—उस से पानी ज्यादा पड़ जायगा और फल यह होगा कि मकान भी गिर जायगा। यह फैसला राजा तक पहुंचा—राजा ने उसको पदच्युत कर दिया। इसी प्रकार जो निमित्त कारण को ही सबकुछ समझ बैठे हैं–भाव संसारको छोड़ नहीं सकते। सारे प्रयत्नों से पहिले सम्यग्ज्ञान को उपार्जन करो। संसार तो दुखों का घर है भैया ! यदि सुखी होना है, सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो और आत्मकल्याण का मार्ग अपनाओ।

अगर कान के हम ऐसे ही कच्चे बने रहे कि दूसरे के बचन को निमित्त माना और खुद करने लगे तो हम फिर कभी सुखी हो नहीं सकते और हम यदि ऐसे ही बुद्धि के कच्चे बने रहे कि आत्मा और पदार्थों को न पहचाना तो भी हम सुखी न रह सकेंगे ! जहां स्वरूप में स्वपरिणमन का ज्ञान हो जाय जहां परपदार्थों से दृष्टि हट जाय वहीं सुख है और वहीं है दुख का अन्त। पदार्थोंका परिणमन तो स्वयं ही होता है पर निमित्त को हम उसका कुछ अशों तक बाह्य कारण मान सकते हैं। निमित्त का असर उपादान पर पहुंचता है।

बाह्य स्थूल दृष्टि है। असर ना स्वयं का स्वयं में ही होता। पर्यायें द्रव्य में रहा करती है। यदि पर्यायें निमित्त की हैं तो उसका असर उसी में रहा। निमित्त का असर निमित्त में व उपादान का असर उपादान में है। मात्र उनका निमित्तक नैमित्तिक संबंध हैं। मैं अपने ही परिणमन से चौकी पर बैठा। चौकी ने मुझसे कोई जबरदस्ती नहीं की। वह तो केवल निमित्तमात्र है। आस्तिक जीव जो स्वतन्त्र स्वरूप का विचार करता है, आत्मा और पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता में जिसकी श्रद्धा और विश्वास है वह यह श्रद्धा नहीं करता कि मैं किसी को पालता हूँ, वह यह भी नहीं सोचता कि मैं इतने पदों वाला था बिना पदों वाला हूं। उसके मन में यह विचार नहीं होता कि मैं निर्धन या मैं धनी हूं। उसका विश्वास है कि प्रत्येक पदार्थ का परिणमन स्वतः स्वयं में ही होता है। कोई पदार्थ किसी को परिणमा नहीं सकता और न कोई आत्मा किसी का परिणमन कर सकती है। यदि कोई उपकार करता है तो वास्तव में वह उपकार नहीं है अपितु वह व्यक्ति अपने में उत्पन्न हुई जो परोपकार की भावना उसको ही कार्यान्वित करता है और इस प्रकार अपनी कषाय का शमन करता है। कोई किसी का उपकार या हित नहीं कर सकता।

हमें यदि दुख से बचना है तो आत्मा और पदार्थ को भिन्न-२ समझें। बाह्य पदार्थों से अपनी दृष्टि को हटायें, जो सुख हम संसार में ढूढ़ते हैं उसे हम अपनी आत्मा में खोजें और इस प्रकार अपने आपको सुखी बनायें।

आचार्य श्री अमृतचन्द्र ने कहा है—उस सारभूत तत्व का आश्रय लो और उसी का आस्वादन करो जो विपत्ति का स्थान नहीं है। प्रत्येक उपयोगों में जो सदा बना रहता है परन्तु अपने आप कभी किसी परिणति रूप ही नहीं रहता उस एक आत्मा को जो दुख और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

चिन्ता से मुक्त है और है शान्ति सुख का पावन ज्ञानमय स्थान, उसको भूलकर जीव दुःख ही उठा रहे हैं। यदि सुख पाना है तो आपत्ति रहित स्थान निज भाव को देखो और उसका मनन करो। वह निजभाव प्राप्त कैसे किया जाय ? उसे पाने का एक उपाय है कि अपनी स्वतन्त्र दृष्टि करो। कुछ भी और किसी भी प्रकार वस्तु और संसार तथा आत्मा का प्रतिपादन किया जाय एवं सुख का मार्ग बताया जाय पर हम अन्त में वहीं पहुँचेंगे कि "निजको निज परको पर जान फिर दुख का नहीं लेश निदान ॥" एक जगह और भी कहा गया है—

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किञ्चित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥

"जीव पुद्गल से पृथक है और पुद्गल जीव से" बस वास्तविक ज्ञान वस्तुतो इतनी ही है और जो कुछ जितना भी वर्णन हैं वह केवल इसका ही विस्तार है। करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग और प्रथमानुयोग में जो कुछ वर्णन है वह "निजको निज परको पर जान" का ही उद्देश्य बताते हैं यदि यह सिद्धान्त हमने ही समझ लिया, मनन कर लिया तथा अपने में इसी सिद्धान्त की दृढ़ श्रद्धा रखी तो दुख तुमसे दूर रहेगा। आप अपने को अन्तस्तल के सुख सागर में गोते लगाते पायेंगे। सुख है त्याग में और दुख है किसी को अपनाने में जबरदस्ती अपना बनाने में। अतः अपनाने की जबरदस्ती छोड़ दो तो दुख छूट जायगा। जब पदार्थ जुदे हैं फिर हम क्यों जबरदस्ती करते हैं उन्हें परस्पर संयोग में लाने की उन्हें एकात्मक मानने की। वे अनादि काल से प्रथक है, स्वतन्त्र सत्यवान है और अनादि काल तक ऐसे ही रहेंगे उनकी यह व्यवस्था हम नहीं बिगाड़ सकते। वे हमें नहीं परिणमाते और हम उन्हें नहीं परिणमा

http://www.jainkosh.org

सकते यह जबरदस्ती जो हम करते हैं मिथ्यात्व से है और है राग से और दुख का कारण भी तो यही है। हम इस जबरदस्ती को एक प्रकार से अत्याचार भी कह सकते हैं—काल्पनिक अत्याचार जिस से हम दुखी होते हैं। जिन पदार्थों को हम अपना करना चाहते हैं यह उन्हीं पदार्थों के साथ अत्याचार है। उनका क्या बिगड़ता है अपने साथ अत्याचार है ऐसी विपरीत मान्यता करना। वे पदार्थ तुम्हारे किसी भी प्रकार नहीं हो सकते चाहे तुम उन्हें अपनाने का प्रयत्न करो अथवा नहीं। इसी कारण प्रत्येक जीव को दुख रहता है जब एक अपने स्वरूप पर दृष्टि नहीं आती है और केवल पर्याय दृष्टि ही रहती है। पर्याय दृष्टि होने से ही वह अपने को नाना रूपों में अनुभव करता है। मैं मनुष्य हूं, मैं स्त्री हूं, मैं निर्धन, धनी मैं पशु नारकी आदि अनेक विचार वह करता है। उन नाना पर्यायोंके अनुसार वह अपनी नाना व्यवस्थाऐं बनाना चाहता है—पर वे व्यवस्थाऐं उससे बनती नहीं है। अतः वह दुखी रहता है और अशान्त रहता है।

बच्चों का मासिक पत्र "चन्दा" मेरे पास कोई रख आया था। उसमें मैंने एक कहानी पढ़ी कि जूतों का आविष्कार क्यों और कैसे हुआ था ? एक राजा था। उसने मंत्रियों को आज्ञा दी कि धूलि भी पैरों में लगती है जिससे मेरे पैर गन्दे हो जाते हैं। कल से मेरे पैरों में धूलि नहीं लगनी चाहिए नहीं तो तुमको यथायोग्य दण्ड दिया जायगा। मन्त्रियों ने अगले दिन सब रास्ते झाडुओं से साफ कराये तब तो और भी धूलि उड़ी और राजा क्रोधित होकर बोला—अभी तो धूलि पैरों ही में लगती थी अब तो सारे अंग और सिर तक उड़ने लगी। अगले दिन मन्त्रियों ने सारे रास्ते में खुब पानी छिड़कवाया। राजा वहां से निकला और बोला मेरे पैर तो कीचड़ भरे हो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

गये। तुमने ठीक प्रबन्ध नहीं किया फिर मन्त्रियों ने, जिन्हें कि हम अक्ल के दुश्मन कह सकते हैं, पूरी सड़कों पर चमड़े बिछाने का आयोजन किया पर उतने चमड़े की पूर्ति होना कठिन तो था ही असंभव भी था। तब शोकाकुल राजा के पास एक वृद्ध आया और बोला महाराज मेरे पास एक उपाय है जिससे आपके पैरों में धूलि नहीं लगेगी राजा ने उत्सुकता से पूछा और वृद्ध ने तत्काल उत्तर दिया कि यदि आप यह चमड़ा अपने पैरों में बांध लें तो धूलि आपके पैरों में नहीं लगेगी राजा ने स्वीकार कर लिया और उसकी उन्नति का रूप ही जूता है। कहने का मतलब यह कि जैसे राजा ने अपने में ही परिवर्तन कर पाया और शान्ति पाई वैसे ही यह जीव स्वयं में परिणमन कर सकता है, स्वयं का ही कर्ता और भोक्ता है। कोई भी जीव अपने को छोड़कर अन्य में परिवर्तन नहीं कर सकता। स्वाधीन और सुखी होने का यही उपाय है कि हम अपनी इच्छाओं को रोकें। हम परपदार्थको परिणमनकी इच्छा करतेहैं और सफल नहीं होते तब दुखी होते हैं। अतः दुख की जड़ इच्छा को ही हमें काट डालना चाहिए। कौन किसके काम आते है। सब अपना ही कार्य करते हैं। द्रव्य गुणपर्याय का व्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करो और उसी तरह पदार्थों को देखो।

किसी बालक से कहोगे पानी लाने को तो वह भाग जायगा क्योंकि वह स्वाधीन है और है निरपेक्ष। मनमें आवेगा तो पानी भी दे देगा। युवक तो अपने सिवाय अन्य लोगों को समझते ही नहीं हैं। और वृद्ध को तो पूछता ही कौन है? अतः कोई आत्मा किसी से प्रेम नहीं करती—यह दुनियां का झूठा नाता है। प्रेम आत्मा का स्वभाव नहीं है यह तो चरित्रगुण का विकट रूप है। हमें चाहने की चाह की चाहना नहीं चाहिये। हम जैसा चाहते हैं वैसा परिणमन

असंभव है, बस रोना तो इसी बात का है—और यही दुखका कारण है। दुख मिटाने का उपाय यह है कि इच्छा न करो। इच्छा का निरोध तब तक नहीं हो सकता जब तक कि हमें सम्यग्ज्ञान सुलभ नहीं होता। एक लड़का रोता है हमें हाथी चाहिए। बापने हाथी दूसरे का लाकर घर के आंगन में बांध दिया। उसे फिर भी सन्तोष नहीं हुआ और बोला—यह हाथी मेरे लोटे में रख दो। पर वह यह नहीं जानता कि यह मेरी इच्छा पूर्ण होना असंभव है—वह रोता है तो इसका क्या उपाय है। उपाय यही है कि उसे यह ज्ञान हो जाय कि हाथी लोटे में नहीं आ सकता। वैसे ही यह जीव ऐसी इच्छा करता है जो पूर्ण नहीं हो सकतीं—और फिर दुखी होते हैं। दुख निवारण का उपाय यही कि उन्हें सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति और उसका उपयोग सर्वोत्तम कार्य है। और अन्य काम सब निरर्थक हैं। आचार्य अमृत चन्द जी कहते हैं कि एक उस ज्ञान का आस्वादन करो जहां दुख या शोक ही नहीं है। यही विचारो "हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम" तो कोई आपत्ति ही नहीं। भूल तो दृष्टि में है और सुख दुख उसी के परिणाम हैं। कोई भी काम करो पर आनन्द केवल आपको ज्ञान में ही आयेगा आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त कुछ करता ही नहीं। यदि अपने को भार रहित अनुभव नहीं किया तो क्या किया? बड़ा होना भी एक उपाधि है। उप—आधि= मानसिक दुख के समीप ले जाने वाली। ज्यों ही उपाधि मिली कि मनुष्य मानसिक चिन्ता से भर गया। जब तक कोई बी० ए० शास्त्री या एम० ए० आदि उपाधि प्रदान नहीं करता तब तक उसे शान्ति है और ज्यों ही ये प्राप्त हुई कि फिर उन्हें शान्ति नहीं। उपाधि के साथ मान भी आ जाता है। बी० ए० वाले से यदि कोई ग्रामीण नमस्ते न करे तो वह उससे बिगड़ पड़ेगा। पर्याय में उसका विश्वास है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मैं इतना हूं। कोई हमारा मान करे या न करे हमें मनमें क्षोभ लाना ही न चाहिए पर्याय दृष्टि आने से १० विपत्तियां आजाती हैं आपने एक शादी की जिसमें दश हजार का खर्च किया पर यदि एक भिखारी दो पैसे मांगे तो उसे भगा देंगे और उस पर क्रोध करोगे अर्थात् जब तक सत्ता का बोध नहीं होता तब तक क्रियाएं ठीक नहीं होती। जितना भी रुपया आरम्भ में आप खर्च करें उतना और साहित्य सेवा अनाथ रक्षा बाल शिक्षा, धार्मिक कार्य अपने में खर्च करना चाहिये। पर लोग विवाहोत्सव, मरण भोज आदि उत्सवों में अनावश्यक वृथा पैसा बर्बाद कर रहे हैं। पर्याय से दृष्टि करने से उचित काम करने का ज्ञान नहीं होता। छल करना, झूठ बोलना धोखा देना आदि लोग बड़े काम करना समझते हैं पर ये काम ज्ञान-मार्ग पर चलने वाले के नहीं हैं। वह तो व्यवहार में भी सत्य अहिंसा और क्षमा का अवलम्बन लेता है। हमें समस्त प्राणियों पर क्षमा भाव रखना चाहिए चाहे कोई छोटा हो चाहे कोई बड़ा हो। हमारी बड़ाई तो इसमें है कि हम अपने से छोटे को क्षमा करें। तथा सदा यही मन में विचारें—

खम्मामि सब्बजीवाणं सत्वे जीवा खम्मन्तु मे।

भैया स्वाध्याय उत्तम हुआ इसकी पहिचान तो चर्या है। यदि चर्या सुखद न हुई तो ज्ञानसे लाभ क्या हुआ। क्षमा ही बीरका भूषण है। हमें अपने हृदय को विशाल बनाना चाहिए।

उदारता पूर्ण कार्य करनेका ज्ञान सम्यग्ज्ञान से ही हो सकता है पर्यायदृष्टि में यह ज्ञान नहीं हो सकता। किसी स्टेशन से रेल में बैठे और रिक्त स्थान पाकर उस पर काड़े विछा लिए—बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया। दूसरे यदि आयें तो बैठने न देंगे यह है पर्याय दृष्टि का नमूना पर्यायदृष्टि वाले समझते हैं कि कहीं शरीर को कष्ट

http://www.jainkosh.org

न हो जाये। वह शरीर को अपना शरीर मान रहा है—वह अपनी काय से परोपकार नहीं करना चाहता।

समय बदल रहा है। पहिले मनुष्य कितने ऊंचे होते थे, उन में कितनी शक्ति होती थी, वे कितने वर्ष जीवित रहते थे। पर अब तन-धन-आयु सभी क्षीण हो रहे हैं। यदि तुमने उनका उपयोग स्व परोपकार करने में न किया तो जीवन यों ही वृथा गमा दिया। जो करोगे वह तुम्हारी वृद्धावस्था को इसी भव में सहायक होगा तथा एक मात्र धर्म और ज्ञान ही ऐसी चीज है जो अगले भवके लिए जाती है। अब हमें ममत्व और पर्यायदृष्टि हटाकर ज्ञान की सेवा और उसका उपार्जन करना चाहिये इसी में हमारी भलाई है। यदि ज्ञानभाव को न सम्भाला तो आकुलता का ठिकाना न रहेगा परेशानी का समय अब आ गया है। सरकार ने अब सम्पत्तिकर भी लगा दिया है, जीवन रहने पर भी धन और जान की चिन्ता लगी रहती है। जो कुछ सरकार कर रही है वह जैन धर्म के सिद्धांत अनुसार ही तो कर रही है। जैन धर्म भी तो यही कहता है कि सम्पत्ति अधिक नहीं रखो जो अधिक हो उसका दान कर दो साहित्य सेवा के लिये, अनाथ रक्षा के लिये, शिक्षा के लिये, औषधालय के लिये।

धर्म यही सिखाता है धन में ममत्व न करो। यह धन तुम्हें कभी न कभी छोड़ना ही पड़ेगा। पर स्वतः छोड़ा हुआ दान या त्याग होगा और होगा आत्मशुद्धि तथा आत्मउन्नति का कारण और नहीं तो मरने के बाद वह स्वयं तुम्हें सौंप देगा। संसार का विजेता सिकन्दर ने दुनियां को यह बताया कि इतना बड़ा होता हुआ एक राजा खाली हाथ ही संसार से जा रहा है। अतः धन वालों को चाहिये कि धन में पर्यायदृष्टि छोड़कर उसे अपना न समझकर देश उन्नति समाज

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सुधार आदि अच्छे कार्यों में लगाना चाहिए। जरा भेद विज्ञान की दृष्टि से देखो जब शरीर और आत्मा भी एक नहीं है तो धन और आत्मा का सम्बन्ध कदापि नहीं हो सकता।

शरीर का व्याकरण से व्युत्पत्ति अर्थ होता है "शीर्यते इति शरीर" अर्थात् जो सड़े और गले यह शरीर है पर आत्मा अनादि और अनंत है शस्त्र से यह छिदा नहीं, पावकसे दहा नहीं, जल से गलने वाली नहीं और वायु से सूखने वाली नहीं। दूसरे आत्मा चेतन है पर शरीर अचेतन है जड़ है। भैया! तिल और बालू की क्या तुलना। एक में ज्ञान सागर लहरा रहा है तो दूसरा मरुस्थल के समान शुष्क है तीसरे, आत्मा अमूर्तिक, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रहित है और कहां यह शरीर उनका पिण्ड है। इन दोनों की कभी समयता हो नहीं सकती। फिर भी हम अपने को भूले हुये हैं–भैया हममें अनन्तशक्ति विद्यमान है पर अपने को भूलकर के स्वयं कष्ट उठा रहे हैं। एक कथा है। किसान खेत जोत रहा था सन्ध्या हो चुकी थी। घर को लौटते हुये किसान ने कहा उतना डर हमें शेर का नहीं जितना अन्धेरी का। यह बात शेर ने भी सुन ली और चुपचाप बैठ गया जंगल में। उसी बीच कुम्हार का गधा गुम गया और वह ढूढ़ने के लिये वहां जंगल में गया और बैठे हुये शेर को गधा समझकर कान पकड़ लिया और दो डन्डे जमाये। शेर अन्धेरी से डरा हुआ था अब बिचारा थर-थर कांपने लगा। कुम्हार घर लेगया उसको और बांध दिया घर जाकर। तो भैया। वैसे हो शक्ति खो बैठे हैं जैसे शेर अपनी शक्ति भूलकर खो बैठा था। हमें संयोग से कोई लाभ नहीं किन्तु हमारी शान्ति चली जाती है और वियोग से हमें कुछ मिल जाता है आत्मा के विकल्प नष्ट हो जाते हैं जो उनके संयोग से आते हैं

जो दुख के कारण हैं। श्री चिरोंजां बाईजी ४ वर्ष में विधवा हो गई। उन्हें विरक्तता हो गई घर से बहुत से पुरुष स्त्री भाई उन्हें समझाने और सान्त्वना देने आये पर किसी ने यह नहीं कहा कि अब धर्म सेवन करो पर उनकी स्वयं यह हार्दिक भावना रही कि मैं धर्म सेवन ही करुंगी व धर्म मार्ग में लगा दिया अपने को और स्वपर कल्याण किया संयोग दुख का और वियोग सुख का बीज है–वास्तविकता तो यही है। संसार के जितने सुन्दर पदार्थ हैं वे सब मनको तड़फा-तड़फा करके मारने वाले हैं इसीलिये वे सुन्दर कहलाते सुन्दर शब्द में ३ विभाग हैं सु (उपसर्ग) उन्दी (क्लेदने धातु) अरच् (प्रत्यय)। इससे यही अर्थ निकलता। हमें बाह्य अर्थों से ध्यान हटाकर निज-स्वभाव का ध्यान करना चाहिये।

ध्यान हमें एकान्तमें रखना चाहिए और अपने को पहिचानना चाहिए। मैं अकेला हूं मेरा कोई नहीं है, मैं ज्ञान और चैतन्यमात्र हूं। यदि आप अपने में ही लीन हो जायें तो लक्ष्मी आकर आपके चरणों में लोटेगी। और यदि इच्छा तो आपके अन्दर बनी रही तो विपत्ति आपका आह्वान करेगी। पर्याय में अन्धेरा है और अपने आपकी दृष्टि में है प्रकाश पर्याय दृष्टि में मान है। स्वाध्याय का फल सच्ची समझ है जिससे कषायें स्वयं क्षीण होने लगती है। एक भंगिन झाड़ रही थी। वहीं साधु बैठा था बोला–अरे भंगिन। तुझे कुछ तमीज नहीं-तू धूल क्यों उड़ा रही है। बाबाजी! आप जो मेरे पति और पुत्र को अपने घर में रखे हो उन्हें जब निकाल देंगे तब मैं आपकी बात मानूंगी। साधु भंगिनकी बातें सुनकर और भी क्रोधित होकर बोला मुझे तू झूठा दोष लगाती है। भंगिन समझाती हुई बोली–महाराज क्रोधित न होइये–मैं सच कहती हूँ। आपके अन्तरगमें विद्यमान जो क्रोध है क्या वह मेरे पति चाण्डाल से कम है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उन्हें कम कीजिये। एक श्लोक संस्कृतमें कहा गया है कि किस जाति में कौन चाण्डाल है—यह यह श्लोक यद्यपि अशुद्ध है फिर भी भाव लेना।

मुनीनां कोप चाण्डाल: पशु चण्डाल गर्दभ:। पक्षिणांकाक चाण्डाल: सर्व चण्डाल निन्दक: जो निन्दा करता है वह सब चाण्डाल है। गधा घोड़ा और गायमें क्या अन्तर है पर लोग गधेसे ग्लानि करते हैं। यही कि उसमें गुणों की कमी है। वह बुद्धू, मूर्ख, लादू कलाविहीन, अगुणी बदसूरत होता है।

हमें किसी की निन्दा न करनी चाहिए निन्दा दुर्गति को ले जाने वाली है। तथा अपनी प्रशंसा की इच्छा भी न करो। परके अवगुण ढांको और गुणों को प्रकट करो। पर्यायदृष्टि को दूर करो नहीं तो जिसमें पर्यायदृष्टि रही उसी को अपनाने की इच्छा होती। मैं परिवारवाला हूं, मैं पुत्रवाला हूं आदि विचार इसी के उदाहरण हैं। मैं अलग हूं और ये कर्म भी अलग हैं। मैं मोहवश रागद्वेष विभावों का करता हूं। ज्ञान दर्शनमय मेरा स्वभाव है! पर अपने आपमें अहं बुद्धिके कारण मैं मान करता हूं मैं साधु हूं मैं ब्रह्मचारी हूं आदि मानता हूं यह सर्वमोह की प्रेरणा है जो कुछ मैंने पूर्व में किया है वह मैंने ठीक नहीं किया मेरा कार्य तो चेतना मात्र है।

यदि आत्माको सुखी करना है तो पर्याय दृष्टि हटाओ और आत्मदृष्टि करो। यह आत्मा अनादिकाल से है और अनंतकाल तक रहेगा। यह अनन्त शक्ति वाला है एक एक शक्ति का नाम एक एक

http://www.jainkosh.org

गुण है उसके ही परिणमन विभाव व स्वभाव पर्यायें हैं वे परयायें आत्मा से निकलती है अध्रुव हैं। जिसकी ये परणतियां हैं वह मैं हूं पर्यायें जहां से प्रकट हुई उस स्रोत को देखो और अपने अभेद स्वभाव में अभेदोपयोगी होकर विश्राम पावो यही उत्कृष्ट स्वाध्याय है स्वाध्याय का फल है।

स्वाध्याय: परमं तप:

ॐ शान्ति:

—:※:—

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ॐ

अध्यात्मयोगी पूज्य श्री संत सहजानंदजी वर्णी का प्रवचन

सायं ३–१२–१९५४

संयम

देवपूजा गुरुपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानं चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ॥

देवपूजा, गुरु उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छह कार्य गृहस्थके लिये प्रतिदिन करना चाहिये। इनमें से देवपूजा, गुरु उपासना और स्वाध्याय प्रवचन पहिले हो चुका है—आज हम संयमपर प्रवचन कर रहे हैं। संयम कहते हैं कि सम=अच्छी तरह से, यम=नियन्त्रण करना, रहना। संयम भाव इस भव और परभव दोनों के लिये सुखकारी हैं। संयम अचल शान्तिका देनेवाला और जो कलह हमारे घरोंमें मचे रहते हैं, जिन्होंने गार्हस्थ्य जीवन को नारकीय जीवन बना दिया है, उनको मिटाकर सुख और शान्ति की स्थापना करता है। यदि हमारे घर में लड़ाई होती है तो इसका मूल कारण है संयम का अभाव हमारी इन्द्रियों पर और मन पर यदि अधिकार नहीं हुआ तो हम उस संयम रत्न को खो बैठेंगे जो सुख व शान्ति प्रदायी है। कहा भी है:—

"संयम रतन सम्हाल शील बड़ों संसार में।"

मन में जैसी तृष्णा हुई, जैसे विषयकी चाह मनमें उत्पन्न हुई, वैसा ही आचरण यह मनुष्य करना प्रारम्भ करता है– वह अपने संयम को खो बैठता है। ऐसा जो इन्द्रिय और मनका दास है उसकी दशा लोकमें बड़ी निन्दनीय होती है। एक चाहता है कि मैं ऐसा करुं और वैसा ही दूसरा भी करना चाहता है अतः दोनों की प्रतिकूलता में कलह आदि उत्पन्न हो जाते हैं। जहां कलह होता है वह घर बर्बाद हो जाता है मिट जाता है ऐसी लोकमें प्रसिद्धि है। हमारा अधिकार इन्द्रिय और मन पर हो तथा विषयों की मर्यादा संकुचित हो हमारा उपयोग जहां तक हो सके आत्मामें स्थिर रहे और उसे यहां वहां भटकने न दिया जाय तभी संयम पल सकता है। अपनी बरबादी कभी नहीं होगी। तृष्णा आदि अपने आत्मा के अन्तर की कलह है। और इन इन्द्रियों और मनकी स्थिरताका नाम ही संयम है।

बहुत पुराने समय की बात है लगभग तीसरे कालकी जबकि तीसरा काल समाप्त होने जा रहा था। उस समय कल्पवृक्ष फूल कम देने लगे। और मनुष्यों की इच्छायें अधिक होने लगी अतः कलह होना स्वाभाविक ही था। उस समयके कलह और झगड़ोंको, जिनसे शान्ति भंग हो रही थी, कोई मिटा सका तो उस समय के कुलकरों ने भी सीमा बांधी थी कि इतने पुरुष इन कल्प वृक्षों के फल खावें और इतने पुरुष इन कल्पवृक्षोंके। इस प्रकार उन्होंने भी संयमकी व्यवस्था की थी और संयमकी परपाटी चलाई थी यद्यपि यह संयम नहीं कहा जाता परन्तु बाह्यमें संयम का रूप है। जब जब मनुष्यों कीं इच्छायें बढ़ी और इच्छाओं की प्रतिकूलता में संघर्ष हुये तब तब संयम की शरण गही और सुख शान्ति की स्थापना की। इस समय भी संयम बहुत आवश्यक है क्योंकि जब इच्छायें बढ़ती हैं, विषय चाहकी ओर मन आकर्षित होता है ऐसे अवसर पर उसपर नियन्त्रण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रचना अति आवश्यक हो गया है। इसे कहते हैं लोकसंयम। जब भोग करते-करते अति हो जाती है तब विरक्तिमें मनुष्यका मन लगता है। प्रायः लोक में यह देखा गया है कि भोग के बाद भोग आता है। और आना आवश्यक भी हैं। बिना संयम के जीवन माननींय जीवन नहीं कहा जा सकता। शीलको भी हम संयम कह सकते हैं। जैसे बिना सील के मालको को कोई विश्वास नहीं करता वैसे ही जब तक मनुष्य के पास शील न हो मनुष्य की इज्जत उसका विश्वास और आदर नहीं होता। निश्चय से निज चैतन्य स्वरूप में संयमित हो जाना, अपनी स्थिति अपने में ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहने देना ही संयम है। और व्यवहार संयम के तो दो भेद हैं। पहला इन्द्रिय संयम जो पांच इन्द्रियों और एक मनके भेदसे ६ प्रकार का है। दूसरा है प्राणी-संयम जो पांच स्थावर जीवों को और १ त्रस जीवों के न घातनेके भेदसे ६ प्रकार विभक्त हो जाता है। इस प्रकार संयम के १२ भेद होते हैं।

जगतके प्राणी विषयों के लोभी होते हैं—यदि उनकी इन्द्रियां बस में होती तो आज तक वे संसारमें न बसे होते। इन्हीं विषयोंमें फंस जानेसे वे दुखी हैं व्याकुल हैं। विषय कषाय एक प्रकारकी खाज है आप खाज को जब तक खुजायेंगे कुछ सुखका अनुभव होगा पर ज्योंही खुजाना बन्द किया कि असह्यवेदना उससे उत्पन्न होने लगेगी। वैसा ही इनका हाल है जब तक भोगते जाओ तब तक अच्छे लगते हैं और बादमें ये बहुत कष्ट देते है यहां तक कि जीवन भी हमारा ले लेते हैं। एक एक इन्द्रियके बशमें होकर जीवोंने अपने प्राण खो दिये। स्पर्शन इन्द्रियका कामी हाथी मृत्तिकानिर्मित हथिनी को वास्तविक हथिनी समझ ज्योंही आगे बढ़ता है और गहरे गर्तमें पड़ कर पराधीनता में फंस जाता है तथा अन्त में जीवन भी खो देता

http://www.jainkosh.org

है। मीन रसना इन्द्रिय की शिकार होती है। उसके वश में हो रही वह ज्योंहि मछुएकी वंशी पकड़ने जाती है कि अपनी जिह्वा छेद लेती है और अपनी जान गमा देती है। तीसरी घ्राण इन्द्रिय है। उसके वश में होकर भौंरा अपने प्राण तजता है। जो भारी काठ को भी अपने दांतों से काट सकता है वही भ्रमर उतने कोमल कमल की पंखड़ियों को नहीं काट सकता। विषयी लोगों के शक्ति और बुद्धि दोनों नष्ट हो जाते हैं इस उदाहरण से ऐसा प्रतीत होता है। चक्षु इन्द्रियों के वश में पतंगे अपने प्राण गमाते हैं। जलती शमा में पतंगे अपने को जलाते हैं। एक दीपक में अनेक पतंगे मर जाते हैं! कर्ण इन्द्रिय के वश में हिरण होता है। उसे सुन्दर शब्द से प्रेम होता है। बधिक सुन्दर शब्द करता है हिरण उसे सुनने के लिए रुक जाता है और मौका पाकर शिकारी उसे अपने वांण का लक्ष्य बना लेता है। जब एक एक इन्द्रिय के विषय में फंसा जीव अपने प्राण खो देता है तब मनुष्य जीवों का क्या होगा जो पांचों इन्द्रियों के विषयों में लगे हुये हैं। मनुष्य इन्द्रियके वशमें है और मन उसे वशमें होनेमें सहयोग देता है। विषयभोगों में लगे प्राणी को इस लोक में अशान्ति है और परलोक में भी। जो मनुष्य या प्राणी इनसे दूर रहता है वे सुख और शान्ति का जीवन बिताते हैं। जहां इच्छा है अभिलाषा है वहां दुःख है। यही असंयम का फल है।

एक कपिल ब्राह्मण था। उसकी लड़की की शादी थी। उसके पास धन नहीं था। यह व्यथा उसने राजा को सुनाई। राजा ने कहा कल प्रातः आना और जो कुछ तुम मांगोगे हम तुम्हें दे देंगे। रातको विस्तरों में पड़ा पड़ा ब्राह्मण विचारता है कि राजा से क्या मांगा जाय? वह सोचता है चलो १००) रु० ही काफी है। फिर वह सोचता है कि १००) तो मेरे पड़ौसीके पास भी है पर वह सुखी नहीं है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अतः १०००) रु० राजा से मांगना चाहिए। हजारपति अमुक व्यक्ति भी सुखी नहीं अतः एक लाख रुपया मांगना ही ठीक है। पर लखपति अमुक सेठ भी सुखी नहीं अतः एक करोड़ रुपया मांग लेना चाहिए। फिर वही प्रश्न आया कि करोड़पति भी सुखी नहीं तब उसने सोचा राजा से आधा राज मांग लेना ठीक है। लेकिन यदि आधा राज्य लिया तो राजा के अधिकार में रहना पड़ेगा तो फिर पूरा राज्य ही क्यों न मांग लिया जाय। पूरा राज्य मांगने का निश्चय करके वह लेट गया पर नींद न आई। प्रातः हुआ दैनिक क्रियायें की और मंदिर में जाकर भजन पूजन करने लगा। कुछ सद्बुद्धि पैदा हुई और सोचने लगा कि सबसे अधिक दुखी तो राजा ही है अतः राज्य मांगना तो ठीक नहीं है फिर आधा राज्य मांगूगा फिर विचारा कि एक करोड़ रुपये ही पर्याप्त हैं और ऐसा सोचता सोचता वह १००) रु० पर आगया कि १००) मागूंगा। पर वह फिर भी सोचता है कि मेरा पड़ौसी जिसके पास १००) हैं सुखी नहीं है। अतः अब मैं १००) भी न मागूंगा ऐसा उसने निश्चय कर लिया। इतने में ही राजाकी सवारी मन्दिरके सामने से निकली यब राजाने उससे कहा कहो भैया। क्या मांगना है। ब्राह्मण बोला—राजन्! जब मैंने कुछ मांगा न था तब तो रातभर नींद नहीं आई और कहीं मांग लिया होता तो न जाने क्या होता। कहने का मतलब जब ब्राह्मण के पास इच्छा थी तब वह दुखी था और ज्यो ही इच्छा गई कि सुख और शान्ति उसको प्राप्त हो गई।

इन्द्रिय और मनका असंयम आत्मा के गुणों को नष्ट कर देता है। यद्यपि रागके उदयसे ही विषयों में या असंयम की ओर इन्द्रियां झुकती हैं फिर भी हमारा कर्तव्य है कि हम संयम की ओर झुकें। यदि इतना भी विवेक हममें न आया तो मनुष्य जन्म लेना ही बेकार

है। इससे तो अच्छा होता हम पशु होते पक्षी होते तो मनुष्यभवका नंबर तो न कटता।

जब राग को हम शुभ क्रियाओं में न लगायेंगे तब वह अशुभ क्रियाओंमें जायगा अतः हमें मनको शुभ क्रियाओं में लगाना चाहिए। इन पांच इन्द्रिय और मनको वश में करना ही इन्द्रिय संयम है।

वस्तुतः समस्त विकल्पवृत्तियों से हटकर अपने आपमें निस्तरंग स्थिर होना संयम है। यह संयम बाह्यदृष्टि से नहीं होता बाह्यदृष्टि तो दोषोत्पादक है। इसकी वर्तना का उपाय सम्यग्ज्ञान का उपयोग है। मैं द्रव्यन्द्रियों से भिन्न हूं द्रव्येन्द्रिय जड़ है मैं चेतन हूँ। मैं भावेन्द्रिय से भिन्न हूं, भावेन्द्रिय प्रतिनियत विषय को जानने वाली और इन्द्रिय मन के निमित्त पाकर उत्पन्न होने वाली अध्रुव अपूर्ण अवस्था है मैं आदि अनंत अहेतुक चैतन्यस्वभावी पूर्ण स्वरूप हूं भावेन्द्रिय द्वारा ज्ञेय ग्राह्य इन विषयों से मैं भिन्न हूं विषय अचेतन हैं मैं चेतन हूं इस प्रकार अन्तर्ज्ञान द्वारा सबसे पृथक् निज चैतन्य स्वभावी आत्मा में उपयोग रहने देना संयम का पंथ है। भावसंयम पाने वाले जीवकी जब व्यवहार में प्रवृत्ति होती हैं तब जीव रक्षा रूपद्रव्यसंयम उससे पलता ही है। इसमें प्रधान हित भाव संयम ही है। हमने सब पर अधिकार करना चाहा परन्तु अपने आपपर अपना अधिकार करने का मार्ग भी न जाना तो बतावो भैया अब आगे हित की बात कैसे चलेगी। भावसंयमी जीव जब प्रमादवश व्यवहार में आता है तब द्रव्यसंयम होता है।

त्रस स्थावर जीवों के प्राणोंकी रक्षा करना ही प्राणीसंयम है। इसे पूर्णरूपसे साधु यति ही पाल सकते हैं पर गृहस्थ को भी यथा शक्ति पालन का प्रयत्न करना चाहिये। श्रावकको त्रस जीवों की हिंसा का त्याग सर्वप्रकार करना चाहिए। तथा आवश्यकतासे अधिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

जल न ढोलो, पृथ्वी को बिना किसी प्रयोजन के मत खोदो यहां वहां अग्नि मत जलाओ, बेकार हवा मत करो, और बिना प्रयोजन किसी पेड़ पौधे को कष्ट न पहुंचाओ—यही स्थावर संयम है। गृहस्थ का दैनिक कार्योंमें इनका आश्रय लेना पड़ता है अतः वह उनकी हिंसाका त्यागी नहीं हो सकता पर उसका कर्तव्य तो यह है कि बिना प्रयोजन इनका दुरुपयोग न करे। कवि दौलतराम जी ने भी कहा है—

"षट् काय जीव न हननतें सब विधिदरवहिंसाटरी रागादि भाव निवारतें हिंसा न भावित अवतरी ॥

यदि रागादिक भावों को हमने रोक दिया तो फिर हिंसा हो ही नहीं सकती।

आत्मकल्याण के लिए शुद्धपर्याय द्वार से निज स्वरूप की पहिचान करने वाला निज विभावों पर खेद और पश्चाताप प्रकट करने वाला सद्व्यवहारी, शुद्धाचरणशील, परमार्थ पर ध्यान लगाने वाला सद्गृहस्थ चारित्रमोह के उदय से यद्यपि पूर्ण संयम को नहीं पाजता है फिर भी वह यथाशक्ति नियम निभाने का प्रयत्न करता है। वह लौकिक जगतमें दूसरों के निमित्त द्वारा होने वाली पीड़ा में अपने ही पूर्व कर्मों को कारण कर स्वकीय अपराध ही स्वीकार करता है। वह पीड़ा होने पर यह नहीं विचारता की अमुक ने मुझे कष्ट पहुंचाया अपितु उसे वह अपने द्वारा बोये गये बीज का फल ही मानता है। पीड़ा सहन करता हुआ भी वह सुख एवं शान्ति तथा सन्तोष की खोज वह पीड़ा में ही करता है। लौकिक जगत में व्यवहार करते समय उसका दूसरा ध्यान रहता है हित-मित प्रिय वचन बोलने का। वह स्वप्न में भी अपने बचनों द्वारा दूसरे प्राणियों को संक्लेशित नहीं करना चाहता। वह स्वपरहितकारी, विश्वसनीय, मधुर एवं सरसता और सरलता में पगे वचन ही अपने मुख से निकालता है। उसके वचन जादू और टोने का काम करते हैं। उनमें ओज और प्रभाव होता है। उनमें सत्यता एवं विश्वास अन्तर्निहत रहता है उसके वचन संयत और संयमित ही होते हैं। बिना काम के वे शब्द नहीं बोलते। उनके मुख मण्डल से वे ही वचन निकलते हैं जो सत्य होने के साथ हितकारी भी हों। सत्य और अकल्याणकारी वचन वे नहीं बोलते। ऐसा गृहस्थ अपने से बड़े पुरुषों को अनुभवी मानकर उनका सम्मान करता है। वह ऐसी भावना नहीं रखता कि जो मैंने किया सो ठीक है अपितु उसके हृदय में बड़ों के प्रति आदर और सम्मान रहता है। ऐसे बुद्धिवाले स्वपर दोनों को हित एवं उन्नति कर सकते हैं। जो व्यक्ति यह सोचते हैं कि संसार में बुद्धि एक है जिसमें से आधी तो मेरे पास है और आधी सम्पूर्ण संसार में विभाजित है। ऐसा उनका सोचना अज्ञानतापूर्ण है। समस्तज्ञान तो सकल ज्ञानी को छोड़कर और किसी को होता ही नहीं है। यह ज्ञान शुद्ध चैतन्यमय कर्म मलीमसता से निर्लेप, आत्मस्वभावी, तीनलोक के और त्रिकालके दृष्टा अरहंत व सिद्धों को ही प्राप्त है। जिनके ज्ञानमें दर्पणतलाइव समस्त पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं यहां पुरुषको तो केवल मति श्रुत ये दो ज्ञान ही प्राप्त है फिर गर्व और अभिमान किस बात का? ये मति श्रुत भी तो हमें पूर्णरूपेण नहीं होते—अल्प मति श्रुत ज्ञान ही तो मनुज को प्राप्त है। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ को अपने ज्ञान और अनुभवपर अल्पमात्र भी अभिमान नहीं होता। वह शुद्ध व्यवहारी होता हुआ उन्नतिपथ का अनुगमन करता है। ऐसा सद्व्ययहार आत्मा को कुछ भी संयमित किये बिना नहीं हो सकता।

http://www.jainkosh.org

संयम २ प्रकार से होता है १. कायविरति द्वारा, विषयविरति द्वारा काय विरति ६ प्रकार का संयम है जिसमें पृथ्वी काय, जलकाय अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, इन ५ कायों की अविरति वा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

त्याग तो गृहस्थ के हो नहीं पाता परन्तु आवश्यकता होने पर त्याग कर देता है। त्रसकाय की अविरक्ति का संकल्प से पूरी तरह त्याग कर देता है विषयविरति ६ प्रकार का है स्पर्शनेन्द्रिय विषय विरति, रसनेन्द्रिय विषयविरति घ्राणेन्द्रिय विषयविरति, चक्षुरिन्द्रिय विषय विरति, श्रोत्रेन्द्रिय विषय विरति, मनो विषय विरति। इन सबका यथाशक्ति पालन करता है। हिंसा झूठ, चोरी, कुशील व तृष्णा इनसे विरत रहकर विषयों में न फंसना यह संयम में कर्तव्य हो जाता है संयमी जीव की पहिचान नम्रता और सरलता से हो जाती है जिनका आत्मा संयत नहीं हो पाता वे अहंकार व वक्रता से पूर्ण होते हैं संयमी जीव के वह कमाई होती है जिसे इस भव में व परभव में वह भोगता है किन्तु ज्ञान बढ़ा लिया उससे लाभ हो हो यह नियम नहीं। यहां ज्ञान से मतलब लोकज्ञान से है। हां ज्ञान संयम के लिये सहायक है परन्तु जिसका आशय ठीक न हो उसके संयम के लिये भी सहायक नहीं प्रस्तुत स्वच्छंद प्रवर्ति का निमित्त बन सकता यह दोष ज्ञान का नहीं किन्तु मिथ्या अभिप्राय का है जिसका सम्बन्ध मिथ्या श्रद्धा से है।

एक नया पढ़ा लिखा युवक नाव में नदी की सैर करने गया। नाविक (मांझी) से वार्तालाप करता हुआ वह चला। तुम कुछ पढ़े हो मांझी ? युवक ने प्रश्न किया। नही भैया हम नहीं पढ़े मांझी ने नम्रतापूर्ण शब्दों में उत्तर दिया। युवक ने मांझी पर अपशब्दों की बौछार की और बोला ऐसे व्यक्तियों ने भारत को गुलाम बना रखा है मांझी शान्त और चुपचाप रहा पर उसका हृदय वचन बाणों से विद्ध गया। आगे चलनेपर एक भयानक भंवर आयी नैया उसमें लड़खड़ाने लगीं। मांझी बोला भैया ! नाव तो अब जाती है। मैं तो तैरकर निकल जाऊंगा—क्या तुमने तैरना सीखा है ? युवक ने

शीघ्रता से भयातुर होते हुए कहा—नहीं, मांझी मुझे बचाओ इस भयानक भंवर से। मांझी ने अपने बदले का अच्छा अवसर पाया और उन सब अपशब्दों को दुहरा दिया जो युवक ने कहे थे। युवक बहुत लज्जित हुआ ये शब्द सुनकर। अतः हमें अपने को बड़ा न समझ बैठना चाहिए। अपने अधूरेपन पर क्या गर्व करना। अधूरेपन पर तो लज्जा आनी चाहिए गर्व नहीं स्वयं की उच्चता एवं वास्तविकता का हम उतना अच्छा निर्णय नहीं कर सकते जितना दूसरे व्यक्ति हमें अच्छी तरह समझ सकते हैं। हमें किसी समागम में गर्व न करके, काम क्रोध मान माया लोभादि दुर्गुणों को दूर करने के प्रयत्न में लगना चाहिये। ये ही दुःख के मूल हैं। काम मनसे उत्पन्न होता है। अतः मन को वश में करना चाहिए। मनमें कोई संकल्प विकल्प न उठने देना ही गृहस्थ का काम होना चाहिए ब्रह्मचर्य के न पालने से आत्मा में अशान्ति, क्षीणता, दृढ़ता का अभाव आदि अवगुण आ जाते हैं। शरीर भी दुर्बल हो जाता है। स्मरण शक्ति विलुप्त हो जाती है तथा उसका शरीर रोगों का घर हो जाता है। इस बीच में ५ व्यक्तियों ने आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत लिया (१) जैराम जी, (२) अमोरचंदजी (३) सुन्दर लालजी और (४) दीपचंद जी तथा (५) नन्हेलाल जी आत्मसंयम के अर्थ गृहस्थों को पंचानुव्रतों का पालन करना भी आवश्यक है। समस्त भद्राचार्य ने आठ मूलगुणों में पांच अणुव्रत और तीन मकारों को गिनाया है। इनका गृहस्थ के लिये यथा शक्ति पालन करना चाहिए। सबसे पहला अहिंसाणुव्रत है गृहस्थ चार प्रकार को हिंसायें करता है। (१) संकल्पी (२) आरम्भ (३) उद्योगी और (४) विरोधी। प्राणिमात्र को दुख पहुंचाने का संकल्प या विचार भी आत्मा में न आने देना का नाम संकल्पी हिंसा है। गृहस्थ इस हिंसा का त्यागी हो सकता है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उसे किसी के भी दिल न दुखाने की भावना अन्तर में रखना चाहिए। गृहस्थ अपने दैनिक चर्या एवं भोजन आदि व्यवस्था के लिये आरम्भ करता है—काम करता है उसमें सावधानी होने पर भी होने वाली हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते हैं। दैनिक कार्य किये बिना, रोटी खाये बिना गृहस्थ का काम नहीं चल सकता। अतः वह आरम्भी हिंसा का त्यागी नहीं होता परन्तु वह भरसक प्रयत्न यह करता है कि मुझसे किसी भी प्राणी को कष्ट न पहुँचे। उसकी प्रत्येक क्रिया में सावधानी एवं सतर्कता होनी चाहिए। अगली उद्योगी हिंसा है जो गृहस्थ के द्वारा अपने व्यापार आदि में होती है। उसका भी वह सम्पूर्ण सम्पूर्ण त्यागी नहीं होता पर उसे उससे बचने का यथा शक्ति प्रयास करना चाहिए। जानमाल की रक्षा के लिये गृहस्थ विरोधी हिंसा भी करता है। वह दूसरों को हानि पहुंचाकर अपनी रक्षा नहीं करता। पर वह अपने ऊपर आयी हुई आपत्ति का सामना आत्म-रक्षा के लिए करता हुआ भी उसमें होने वाली हिंसा से बचने का प्रयत्न करता है। प्रत्येक गृहस्थ का यह कर्त्तव्य होता है कि वह अपने कार्यों को अहिंसात्मक बनाए तभी वे "अहिंसामय जैन धर्म के अनुयायी कहे जा सकते हैं। एक राजाने कहा जैनी हिंसा नहीं करते। इसकी परीक्षा के लिये उसने मार्ग चलते जैनी से कहा उस बकरे को पकड़ लाओ। जैनी उसे पकड़ लाया। राजा ने उससे बकरा काटने को कहा—जैन ने मना कर दिया कि राजन! आप और चाहे जो काम मुझसे ले लो पर यह न होगा। उसे राजा ने डराया और धमकाया पर जैन यह करने को तैयार न हुआ। तब राजा उससे बहुत प्रसन्न हुआ। अहिंसा संयम की महेरी है अहिंसा बिना संयम होता ही नहीं है। सूक्ष्मता से देखो समस्त संयम अहिंसा का ही रूप है।

दूसरा सत्याणुव्रत है। सत्य के समान कोई दूसरा तप नहीं

http://www.jainkosh.org

है। एक कवि ने भी कहा है :—

साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

सत्यवादी के हृदय में तो ईश्वर का निवास है। सत्य के बिना तो धर्म भी धर्म नहीं कहा जा सकता—वह तो अधर्म है। गृहस्थों को भी सत्य बोलना चाहिये। एक अंगरेज ने कहा है:—

"सत्य बोतल के काग के समान है, उसे कितना भी दबाया जाय वह सदा ऊपर ही रहता है उसी प्रकार सत्य भी छिपाये से नहीं छिपता।" असत्य वादी का लौकिक व्यवहार नष्ट हो जाता है क्यों कि रहिमन हांडी काठ की चढ़ै न दूजी बार" अर्थात् असत्य वक्ता जनता को एक ही बार धोखा दे सकता है बार बार नहीं।

संयम यह है जिससे आत्मस्वभाव का विकास बने। सच पूछो तो संयम वहां से प्रारम्भ होता है जबकि असत्य, कटुक, वचन का त्याग कर दिया जावे। आत्मबल प्रकट करने का वही अधिकारी है जिसका व्यवहार सत्य बनें। करे कुछ सोचे कुछ वेष व्रत का हो मन में परिग्रह हो तो वहां संयम का उदय नहीं हो सकता। देखो जैसे आधासीसी के द्वारा सूर्य किरणों को केन्द्रितकर देने पर वह शक्ति आती है कि नीचे रखा हुआ पदार्थ भस्म होने लगे इसी प्रकार अपने उपयोग को जो केन्द्रित करले अर्थात् सत्य संयमी बनले उसमें वह शक्ति आजाती है कि यह सब विकल्प इन्धन और कर्म इन्धन भस्म हो जाता है अहो संयम ही जिन्हें प्यारा है उन पवित्र आत्माओं की कौन प्रशंसा कर सकता है वह अपने सत्य सुख को पाने में सफल हो रहा है। संयम का अनादर कर जीवन सफल करलो। सत्य वचन बोलकर संयम की नींव बनालो सत्य व्यवहार करके संयम के पथ पर अडिग चलने की शक्ति बनालो।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कविवर बनारसीदास पगड़ी बेचने का व्यापार करते थे। वे व्यापार में भी सत्य बोलते थे। एक पगड़ी पर वे एक आना लाभ के रूप में लेते थे तथा उनकी यह भी प्रतिज्ञा थी कि जब एक रुपया दिन में लाभ हो जायगा तब दुकान बन्द कर देंगे। वे एक रुपये कीमत की पगड़ी १) में बेचते थे। एक बार राजा ने इनकी परीक्षा करने के लिये अपने दरबारियों से कहा कि सबलोग पगड़ी लगाकर दरबार में आया करो अन्यथा कड़ी से कड़ी सजा दी जायगी दरबारी बनारसी दास जी के पास पगड़ी लेने आये। तब उन्होंने पचास पगड़ियां दरबारियों को दे दी और एक आने प्रति पगड़ी के लाभ के स्थान पर उन्हें एक पैसा ही मुनाफा प्रति पगड़ी पर दिया। राजा यह जानकर उन पर बहुत प्रसन्न हुआ। हमारे पूर्वजों की इन्हीं आचार विचारों के कारण मान्यता और आदर एवं प्रतिष्ठा थी। सत्य बोलते जैसे भाव का कारण भी अहिंसा है, सब व्रतों की रक्षा अहिंसा से है।

अब गृहस्थ अहिंसाव्रत का पालन नहीं करते। वे रात्रि भोजन भी नहीं त्याग सकते हैं। रात को भोजन करने से अनेक हानियां। सर्वप्रथम तो वह स्वास्थ्य की दृष्टि से ही हानिप्रद है। दूसरे अनेक छोटे मोटे कीड़े-तकोड़े दीपक के प्रकाश के कारण भोजन में पड़ जाते हैं और शरीर में हानि पहुंचाते हैं। एक बार रात का भोजन बन रहा था। एक छिपकली भोजन में गिर गई जिसके कारण पूरी बारात की बारात ही नष्ट हो गई थी ये सब असंयम के फल हैं। इस प्रकार की कुप्रथायें हमें अपनी समाज से उठा देनी चाहिए कुछ लोगों को असत्य भाषण की आदत पड़ जाती है। वे बिना किसी लाभ के ही असत्य बोला करते हैं असत्यवादी की आत्मा सदा शंकित रहती है कि कहीं किसी को वास्तविकता मालूम न पड़ जाय।

चोरी का भी गृहस्थको त्याग करना चाहिए। चोर और डाकू बुरी मौत मरते हैं।

चोरी करना घृणित कार्य है। अञ्जन चोर चोरी करने में प्रसिद्ध था उसने उसका परित्याग किया और प्रसिद्ध हो गया। चोर का जीवन सुखी जीवन नहीं है।

कहीं सभा हो रही हो, धर्म की चर्चा हो रही हो। चोर वहां भी जाकर दुर्भावना से काम करते है। दूसरे की जेब से बटुआ निकालने का प्रयत्न करते हैं। निकाल लिया और यदि किसी ने देख पाया तब तो अपना और अपने बाप का है और शायद देख लिया तो यह कहकर कि देख रहा हूं कि आप कितने सावधान हैं, पिंड छुड़ा लेते हैं अहा दुर्भाव करके अपना महान् घात प्राणी करता है इसकी उसे खबर नहीं, आगे जैसे जन्म ही न लेना हो।

आत्मसंयम के अर्थ गृहस्थ के लिये स्वदार सन्तोषी होना चाहिए। उसे अपनी स्त्री में भी अधिक आशक्ति न रखना चाहिए। यह शरीर अशुचि और अपवित्र है। इस पर खाल की चादर मढ़ी है इससे यह सुहावना लगता है यदि इसे थोड़ा सा भी उतारा जाय तो तुम्हारी देखने की भी इच्छा न होगी। यह मल और मूत्र का स्थान है। भूध दास ने बारह भावना में शरीर की अशुचिता स्पष्ट की है:—

दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़ पिंजरा देह।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिनगेह॥

संसार में इसके समान घिनावन अन्य कोई पदार्थ नहीं है। कवि दौलतराम जी ने भी इस पर प्रकाश डाला है:—

मल रुधिर राधमय थैली, कीकस वसादि तैं मैली।
नव द्वार वहै घिनकारी, असि देह करे किमियारी॥

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हे चेतन ! इस घृणित शरीर में रमणकर क्यों सुख मान रहे हो ! अतः ऐसे शरीर से अपनी रुचि को अलग करके अपनी चैतन्य-मय अवस्था, चिदानन्द रूप परिणित का ध्यान एवं चिन्तवन करना चाहिए। शरीर को उर्दू में बदमाश कहते हैं। सो भैया ! यह शरीर बदमाश है। इसे हम जितना सजाते हैं, इसकी जितनी सेवा करले, इत्रादि सुगन्धित पदार्थों का इस पर लेप करते हैं उतना ही यह हमें धोखा देता है। इससे तो हमें तप स्वाध्याय आदि का काम लेना चाहिए यह देह नश्वर है हमें उससे अपने स्वभाव को हटाकर अपनी आत्मा में लगाना चाहिए, आत्म संयमी होना चाहिये।

गृहस्थ के लिये परिग्रह की भी सीमा रखनी चाहिए कि हम इतना ही परिग्रह रखें। सरकार भी अब आयकर लगा रही है यही बात तो जैन धर्म कहता है। हमें इतना ही कमाना चाहिये जिससे हमारी पेट पूर्ति हो जावे और आजीविका चलती रहे पुण्योदय से ज्यादह आय हो वह परोपकार के लिये हो। कुछ व्यक्ति तो ऐसे हैं जो यदि आज से ही व्यापार आदि छोड़ दें तो जीवन भर सुख रह-कर खा सकते हैं। पर मोह और ममत्व आत्मा पर अधिकार जमाए बैठा है। संसार में कोई सुखी नहीं है। गरीब इस कारण दुखी है कि उसके पास पैसा नहीं है और अमीर इस कारण कि उसे उसकी रक्षा की चिन्ता चिन्तित बनाय रहती है। धनी की अपेक्षा निर्धन पैर पसार कर सड़क पर निडर होकर सोता है पर धनिक को चोरों का डर सता देता है और बन्द मकान में सोता है। यदि हमें सुखी होना है तो हमें अपनी आवश्यकताओं को परिमित करना चाहिए, हमें अपनी इच्छायें सीमित करनी चाहिए। जब हमारी इच्छायें और आवश्यकतायें सीमित होंगी तब हमें अधिक धन की चाह ही न होगी और इस कारण हम दुखी भी न होंगे। हम दूसरे की सम्पत्ति देख-

http://www.jainkosh.org

कर दुखी न होंगे न निन्दा करने की ओर ही हमारा ध्यान जायगा। अतः सुखी होने के लिये हमें परिग्रह कम करना चाहिए जितनी तुम में शक्ति हो। यह सब व्यवहार आत्म संयम की जागृति में सरलतया हो जाता है। संयम ही सुख की खान है संयम का सम्बन्ध अन्तरङ्ग से है अतः ज्ञान बिना संयम हो ही नहीं सकती संयम की सेवा के लिये मोटे व्यवहार तो प्रथम ही सुधार लना ही चाहिये।

गृहस्थी के लिये सप्त व्यसन का भी त्याग करना चाहिए। जुआ खेलने का तो गृहस्थ को आजन्म त्याग कर देना चाहिए जुआ खेलने के दुष्परिणाम स्वरूप पाण्डवों को बन में रहना पड़ा, द्रोपदी का वस्त्र हरण किया गया और उसी के कारण महाभारत का युद्ध हुआ। जुआरी सदा असन्तुष्ट रहता है, उसकी आत्मा सदा आकुल एवं सत्कम्पित बनी रहती है, समाज में उसका अनादर और निन्दा होती है। आज कुछ मनुष्यों ने आजन्म सूक्ष्म भी जुआ खेलने का त्याग किया है। अन्य कोई जुआरी हो तो उनको उनका अनुकरण करना चाहिए। गृहस्थों का जीवन पंचाणुव्रत पालन रूप एवं सप्त व्यसनत्याग रूप होना चाहिए। इसी में शान्ति सुख और अनाकुलता है। इसी में आत्मा का हित है। ऐसा गृहस्थ ही प्रशंसनीय होता है। आत्मसंयम करके ही शान्ति पाई जा सकती है इसके अर्थ गृहस्थों को सम्यक्ज्ञान प्राप्ति में अधिक ध्यान रखना चाहिए। प्रत्येक गृहस्थ को चाहिए कि प्रतिदिन ४५ मिनट स्वाध्याय करे, शास्त्र पढ़ें। उसे उसी प्रकार अध्ययन करना चाहिए जिस प्रकार छात्र पढ़ता है। प्रतिदिन अगर तुमने एक भी श्लोक या दोहा याद किया तो साल में ३६० दोहे याद होते हैं और एक महान ग्रन्थ के कर्म को तुम समझ सकते हो।

अपना ध्यान संसार की अपेक्षा आत्मा के चैतन्य चिदानन्द-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मय स्वभाव पर ही केन्द्रित होना चाहिए तब ही सुखी शान्ति रहा जा सकता है। संयम बिना आकुलता दूर हो ही नहीं सकेगी। पुण्यो-दय से यदि यहां वैभव मिले हैं तो स्वच्छता से भले ही कोई भोग ले परन्तु परलोक में इसका ठेका तो है नहीं कि फिर भोग मिले। अरे भोगों की बात तो दूर रही यही ठेका नहीं है कि फिर मनुष्य हों। भैया संयम से रहकर आत्मस्वभाव में पहुंचने की स्थिर रहने की योग्यता बढ़ावो और सर्वप्रकार निर्मोह होकर सुखी होओ।

॥ॐ शान्तिः॥

—:❀:—

अध्यात्म योगी पूज्य श्री संत सहजानन्दजी वर्णी का प्रवचन

तप

२६–११–१९५४

समस्त परबुद्धियों के छः पूर्ण विश्रामों को तजकर निज चैतन्य स्वभावके प्रतापमें तपना सो तप है। इस अन्तस्तत्व से सहज ज्ञानज्योति प्रकट होती है जो अनन्त पूर्ण सुख के साथ ही बनी रहा करती है। बाह्य के समस्त तपोंका उद्देश्य यही आत्मतप है। आत्म-तपका कार्य पूर्ण अहिंसा है, अहिंसा ही एक परमब्रह्म वस्तु है। अहिंसा व्रत है, वही तप है, वही संयम है, वही मोक्षका मार्ग है और उसके पालनेका फल मोक्ष है। मोक्ष अहिंसामय है और अहिंसा मोक्ष का उपाय है—वही धर्म है—उसे पालना चाहिए।

जहां स्वयंके और परके प्राणोंका घात नहीं होता उसे कहते हैं अहिंसा। जैन धर्ममें अहिंसाका स्थान बहुत ऊंचा है, उसका लक्षण बहुत श्रेष्ठ है उसका महत्व अपार और अगम है। कुछ धर्मावलम्बी

दूसरे मनुष्योंके घात न करने मात्रके अहिंसा मानते हैं तो अन्य लोग दूसरे प्राणी, जैसे पशु पक्षी आदि के दिल न दुखाने को अहिंसा कहते हैं। कुछ और आगे चलकर अन्य लोग कीड़े मकोड़े के भी दिल न दुखाने को अहिंसा स्वीकार करते हैं तथा और लोग एकेन्द्रिय जीवों तक के घात न करने को अहिंसा मानते हैं। पर प्रायः सभी लोग अपने सम्बन्ध में मौन रहते हैं। अहिंसाका वास्तविक लक्षण तो इस प्रकार करना चाहिए जहां आत्मामें रागद्वेष सम्बन्धी कोई विकल्प भी न आवे वह अहिंसा है। लोगों को जिन अन्य पदार्थों या जीवों से कोई सम्बन्ध नहीं उनके सम्बन्धमें तो सोचता है पर अपने बारेमें नहीं विचारता—यह उसका अज्ञान हैं।

अपने चित्तको न दुखाना अर्थात् किसी भी प्रकारकी आकुलता न आने देना अहिंसा है। यदि हम और सूक्ष्मतापर चलें तो अपनेमें दूसरे को घातने या दिल दुखानेके विचार न आने देना अहिंसा हैं यह ठीक उतरता है क्योंकि घात का परिणाम होना स्वयं हिंसा है। परके प्राण दुखने से हिंसा नहीं होती अपने प्राण दुखाने से हिंसा होती है परके प्राण दुखानेका भाव करने वालेके प्राण नियम से दुख जाते हैं वही हिंसा है। मैं दूसरेके परिणाम दुखित करनेमें निमित्त हो सकता हूं पर मैं दूसरेके परिणाम नहीं दुखाता किन्तु दूसरेको दुःख देनेके भाव में तो खुद को दुःखी पहिले होना ही पड़ता। अतः जो परिणाम नहीं दुखाता वह हिंसक नहीं और वह स्वयं हिंसक है जो निमित्त पाकर अपने परिणामों को दुखी करता है। अतः स्वच्छ ज्ञान स्वभाव में विकार आने देना व अपने चित्तको दुखाना हिंसा है। ज्योंही निमित्त मिला आत्मामें कषायोत्पत्ति हुई त्यों ही कर्म वर्गणाय बंध गई। दूसरेके प्राण दुखनेपर अपने प्रमत्तयोग के अभावके कर्म बन्ध नहीं होता। आत्मामें कषाय होने से निमित्ति नैमित्तिक सम्बन्ध

Report any errors at vikasnd@gmail.com

द्वारा कर्म बन्धते हैं। अतः वस्तुतः दिलमें विकार आनेका नाम ही हिंसा है। जिसका दिल दुखता है हिंसक वह स्वयं है। वह स्वयं की हिंसा करता है तुम तो दुखानेमें निमित्त हो यह रहस्य बहुत से नहीं जानते। प्रश्न ! फिर परके प्राणोंका घात करना हिंसा है ऐसा क्यों कहा ! दूसरेके घातका त्याग करना क्यों चाहिए ? इसका वही उत्तर है कि आत्मामें जो विकार होता है बस किसी न किसी पर पदार्थके निमित्तसे ही होता है जबकि हम उसे विषय करते हैं—जानते हैं यद्यपि हिंसा निजके रागद्वेषसे होती है पर रागद्वेष आदिभाव तभी उत्पन्न होते हैं जब आत्मा किन्हीं पदार्थोंको विषय करती है अतः दूसरोंके प्राणोंका घात त्याग देनेसे रागद्वेषादि भाव भी नष्ट हो जाते है और निजविषयक हिंसाका अभाव हो जाता है। अतः अहिंसा के भीतरी मर्मको बताने के लिये कहा जाता है कि दूसरे को न घातो दूसरेके घात के यत्नमें नियमसे हिंसा है क्योंकि वहां कषाय भी भाव है वस्तुतः जो विकार, जो कषाये दूसरेके आश्रयसे होती हैं उन्हें न होने देना अहिंसासे संवर और निर्जरा होती है तथा हिंसासे आस्रव और बन्ध। अहिंसा मोक्ष की जननी है, अहिंसा ही सुखी और शान्त रहनेका उपाय है। हिंसाके साम्राज्य में सुख शान्ति नहीं। हिंसाके सद्भावमें तो रागद्वेष आदि विकारों का ही राज्य रहता है और इनका परिणाम है गृहक लह, मारकाट दुर्व्यवहार। व्रत, संयम, चारित्र सभी अहिंसामय है।

देखो भैया अपने परिणामों की सभाल ही बड़ी तपस्या है, कायक्लेश को तप कहता तो सदोष हो सकता, कायक्लेश करने वाले के ये भी अभिप्राय हो सकते कि लोग मेरी महिमा गावे अथवा मुझे इन्द्र आदिके पद मि। अथवा मोक्ष में सुख सुन रखा है वह प्राप्त हो। किसने हो विविध विकल्प कारण हो सकते हैं परन्तु बतावो

http://www.jainkosh.org

इन परिणामो में आत्माकी स्वच्छता प्रकट हो सकती है क्या ? वास्तविक बात तो यही है कि आत्मस्वभाव को जानकर उसमें एकाग्र उपयोगी होना ही तप है जिस तपनेसे स्वभावकी स्वच्छता न हो वह क्या तपन है ? बाह्यतप नाना है परन्तु वे सब तो इसलिये है कि मैंने जो स्वभाव प्रतपनका तप आरम्भ है कहीं उपसर्गादि अथवा क्षुधादिवेदना होने पर मैं इस अन्तस्तपसे न चिग-जाऊं सो बाह्य अनशन, कायक्लेश आदि बुद्धि पूर्वक किये जावे जिससे किसी मौकेपर हम स्खलित न हो सके, अन्तस्तपसे न चिग सकें।

ध्रुव चैतन्यस्वभाव आत्माके जाने बिना उसके चिदानन्दरूप को पहिचाने बिना बाह्यपदार्थोंमें उनको हितकारी समझकर उपयोग लगानेसे वित्त चंचल रहता है अस्थिर रहता है। उसमें आकुलता और अशान्ति रहती है। अहिंसा आत्माको उस उपयोग की अस्थिरतासे बचाता हैं। अहिंसा अपने ऊपर दया करती है। अपने ऊपर दया करना आत्माके कल्याण की साधना करना सबसे बड़ा काम है। सबसे बड़ा ज्ञान है। धर्ममार्ग में अनेक लौकिक बाधायें आती हैं उनकी ओर ध्यान न देकर निजस्वभाव में तपना हमारा देशमें स्थान नहीं जाति में स्थान नहीं धनी होनेका कोई उपाय नहीं—ऐसे विचार ऐसी कल्पनायें इन्हें मनमें न आने देना चाहिए। क्या हमने हिन्दुस्तान में रहने का ही ठेका ले लिया है। पता नहीं आज हम जहां मनुष्यके रूप में हैं। कल कहीं तिर्यंच गति में चले जावें। जीवका कोई निश्चित स्थान नहीं है। और न उसे कोई स्थान अपना समझना चाहिये। सब पुत्र और पुत्री और पतिके सुख में रमे हुये हैं। इनका सुख भी क्या सुख है। अरे। अपनी आत्मा में दृष्टि लगाओ और तुम देखोगे वहां पर कि अनन्त सुख का सागर लहरा रहा है। परपदार्थों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से मोह त्यागकर आत्मा ध्यान करना ही अपने ऊपर दया करना है। लौकिक उत्थानों और लौकिक उन्नतियोंमें आत्मा की उन्नति नहीं होती ऐसा करने से तो और मोह-माया में आत्मा फंसती है उन माया-मोह राग-द्वेष आदि से आत्मा को बचाने के लिए कषायें मन्द करना चाहिये। लौकिक पोजीशनों कषायें मन्द नहीं होती इसी कारण देशमें स्थान पाने के लिये प्रजा में स्थान पाने के लिये धनी होने के लिये हम दुखी होते हैं। उन उत्पन्न कषाओं के वशीभूत होकर हम यह चाहते हैं। कि हमारा देश जाती समाज प्रजा में स्थान हो आदि योग्यता होने पर ये सब होते हैं परन्तु सब पदों पर स्थित होने पर भी सदा आत्मा की श्रद्धा ही दृढ़ होना चाहिए। मैं एकमात्र अविनाशी चेतन हूं मुझमें अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त सुख अनन्त वीर्य स्वभाव में भरे हुये हैं। मेरा स्वभाव ध्रुव है मैं कर्म वश यहां पड़ा हूं फिर भी मैं केवल स्वत: सिद्ध अखण्ड वस्तु हूं इन सब बातों के विवेक से ज्ञान से ही आत्मा का अहिंसा धर्म का पालन करना चाहिए। इस प्रकार स्वयं को सत्ता जानकर आत्मापर दया करनी चाहिए और सम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिये।

आत्म स्वभाव के प्रताप में त कर द्रव्य कर्म की कीट और भावकर्म की कालिमा जला देना चाहिये। तप वही है। जहां आकुलता का रंच भी सद्भाव नहीं है। आकुलता अतप है, निराकुलता तप है। और आकुलता सहित बाह्य तपों को करके मैंने तप किया है यह बुद्धि रहे वह कुतप है। तप में आकुलता रंच भी नहीं रहती।

जब तक सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता तब तक एक आकुलता का विनाश हो नहीं पाया कि दूसरी आकुलताने आघेरा एक अभिलाषा पूर्ण हो नहीं पाई कि दूसरी आशा ने हम पर अधिकार जमा लिया। अभी इन्द्रिय सुख की चाह है और उसे पूर्ण करने का प्रयत्न

करते हैं कि मानसिक इच्छा महसूस होने लगती है। सम्यग्दर्शन के अतिरिक्त और किसी से ये इच्छायें ये दु:ख नष्ट नहीं हो सकते। भला देखना ही दर्शन हैं यथार्थ देखना दर्शन है। पदार्थ जैसा है वैसा ही रखना उनकी उसी रूप श्रद्धा करना सो सम्यग्दर्शन है सम्यग्दर्शन सम्यग्दर्शन प्राप्ति होने पर ज्ञानी को स्वरूपमें शंका नहीं रहती श्री समन्तभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रवकाचार में बताया है कि—इदमेव ईदृश चैव, तत्वं नान्यन्न चान्यया: । इत्यकम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽशंशयारुचि: ।

इस प्रकार की तलवार की धार के समान पदार्थों में दृढ़ श्रद्धा दृढ़ विश्वास होने का नाम सम्यग्दर्शन है।

संसार में केवल कोई हित रूप है वह है आत्माका चैतन्य स्वभाव। अत: विशुद्ध चैतन्यमय आत्मा में रुचि होना—उसका ज्ञान होना सम्यग्दर्शन है। मैं अनादि अनन्त सत् हूं मैं अपने आपको कर रहा और अपने आपमें कर रहा हूं, मैं जो भोग रहा हूं स्वयं को ही भोग रहा हूं—मैं अपने आप कर रहा हूं और अपने आप भोग रहा हूं तथा अपने आपको ही जान रहा हूं। न मैं अन्य का कर्ता हूं न भोक्ता और न मैं अन्यको जानता ही हूं। आत्मा ज्ञेयाकार रूप है—जैसी जगतमें वस्तु है आत्मा में उस रूप से उसका जानन बन जाता है ओर वह जब निजदृष्टि को भूल जाता है निज स्वभाव से च्युत हो जाता है तब वह उन्हें जानता है। ऐसा बाह्य में ही उन्मुख हो जाता है। तभी यह कहा जाता है कि मैं अमुक वस्तु को जानता हूं। यही स्वप्न है सरल है। हम किसी को नहीं देखने। हमने इसे जाना ऐसा मालूम होता है पर वास्तव में ऐसा है नहीं जैसा हम मान बैठे हैं। हम अपने को ही जानते और अपने को ही देखते पर बाह्यचोभ में लगता और तड़का है। आत्माका परिणमन

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आत्मा में होता है ज्ञान का परिणमन स्वयं में होता है। गुणवृत्ति का असर गुणी में होता है अन्यत्र नहीं होता। ज्ञान ज्ञानको जानता है। वह पदार्थ को नहीं जानता। ज्ञेयाकार से यह कहा जाता है कि हम यह जानते हैं। आत्म स्थिरता आत्म ज्ञान यही वस्तु रचना भावकी स्थिति हैं। निज-वस्तु स्थिति के स्वभावसे प्रभावित होकर अनेक लोगों ने तो यह कह दिया जगत में ज्ञानी ही हैं, ज्ञेय है नहीं वे कहते हैं ज्ञानमें चौकी आई। अरे चौकी तो सत् रूप नहीं अत. ज्ञान में चौकी आई। यहां तक कहा जाता है कि सब ज्ञान रूप है चौकी-चटाई या अन्य पदार्थ ज्ञानमें आने से इनकी सत्ता है इतना भी नहीं किन्तु चौकी ज्ञान है ज्ञान चौकी है। उन्होंने इसका रहस्य न समझा वस्तुत: जितने स्वचतुष्टयमय है इतने ही पदार्थ हैं। वैज्ञानिक रीति से परख करलो। यह बात तो निश्चय की है हम किसी को नहीं जानते, कोई हमें नहीं जानता हम किसी को नहीं परिणते, कोई हमें नहीं परिणमता, सब अपने आप अपने में ही परिणमते है। हम स्वयं कर्ता हैं, स्वयं कर्म है। स्वयं कर रहा स्वयं सम्प्रदान है, स्वयं अपादान है, और स्वयं अधिकरण है। इस प्रकार हम अपनेको षट् कारकों की व्यवस्था धारण किये हैं। ऐसे अभिन्न निजमें ही लग जाना यही तप है। इस तपस्या में साधुजन अनवरत बने रहते हैं गृहस्थजन भी इसके अनेक अवसर पाते हैं तथा गृहस्थ रहते हुए भी जो अन्याय अभक्ष्य का त्याग हुआ है सुखी स-व्यवहार हुआ है वह सब इस तप की ही प्रेरणा है। इस तपका मूल सम्यग्दर्शन है।

सब पदार्थों से पृथक् निज आत्माका दर्शन करना सम्यग्दर्शन है। इसके बिना अनादिकालसे चली आरही आकुलता की शान्ति नहीं हो सकती। संसार में सम्यक्त्व के समान कुछ भी नहीं है। समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

न सम्यक्त्व समं किञ्चित् त्रैकाल्ये त्रि जगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥

अञ्जन चोर जैसा अधम पुरुष भी जो अनेक व्यसनों में फंसा था एकमात्र दृढ़ श्रद्धा से णमोकार अनादि निधन मन्त्र का जाप करता हुआ। सम्यमरण कर सुगति में पहुंचा। उसने अपनी आत्मा के सब विकल्प हटा दिये और श्रद्धा से सीके पर चढ़ गया। पर विचारों के विकल्पमें पड़ा सेठ आकुल ही बना रहा क्योंकि उसमें दृढ़ श्रद्धा न थी, दृढ़ भक्ति न थी। जब ऐसा अधम भी सम्यग्दर्शन से तर सकता है तो हम लोग जो उससे कई गुने श्रेष्ठ हैं, जिन्हें व्यसन भी नहीं है सम्यग्दर्शन न पा सकें यह नहीं हो सकता। परन्तु जो पुरुष लोभी और मूर्च्छावान है, उस मूर्छा के कारण अन्य क्रोध, मान माया ये तीन कषायें भी मौजूद है। अनन्तानुबन्धी बनकर वहां सम्यग्दर्शन होना कठिन है इनको मन्द कर दूर करने का उपाय है ज्ञान। ज्ञान आपके आधीन है पर राग और द्वेष और कषायें आपके आधीन नहीं हैं। क्योंकि ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव है और द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं है। जबतक कषायें शान्त नहीं होती सब तक व्रत नहीं हो सकते। अत: ज्ञानकी साधना करो जिससे कषायें मन्द होगी और कषायें नष्ट होने से व्रतों का पालन होगा। अपनी तपस्या में सफलता मिलेगी, अहा यह तप अभूतपूर्व सुखकारी है। एक पदार्थका अन्य पदार्थ पर स्वामित्व नहीं कर्तृत्व नहीं। संसार में सब तत्त्व पृथक् पृथक् है। किसी आत्माका किसी आत्मा से साथ नहीं। जब आत्मा जानना चाहोगे तब जानना आयेगा। आत्मा का ज्ञान होने से चित्त पर पदार्थोंसे स्वयं, दूर होगा—कषाय मन्द होगी और फिर शनै: शनै: दूर हो जायगी। अत: सर्वप्रकार अहिंसा व्रत पालनेमें ज्ञानकी आवश्यकता है। जो रागद्वेष आता है उसे न आने दें उन्हें रोकना

http://www.jainkosh.org
Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कठिन है—पर अधिक कठिन नहीं। जब हम किसी वस्तुका ज्ञान करने बैठते हैं, कोई रूप देखते हैं बैठते हैं कोई शब्द सुनने बैठते हैं, तो क्या वे हमारे ज्ञान में देखने में, सुनने में नहीं आते? जब पदार्थों की सत्ता हम जानने को बैठें तो क्या हम न जान सकेंगे। जानने की ही वृत्ति से दर्शन, ज्ञान-चारित्र प्रकट होते हैं इनके प्रकट होने से आकुलता दुख और मुर्छा हट जाती है। यह सब अपने आपमें तपते रहने का फल है। लोग पर के लिए बड़ा कष्ट सहते अपनी दया ही करते। विकल्प ही दुख है, एक लकड़हारा थक कर जंगल में एक पेड़ के नीचे सो गया। उसने स्वप्न में राजपद पा लिया। मंत्री उसके पास बैठे हैं अन्तः पुरमें अनेक रानियां हैं, सब नौकर आज्ञाकारी हैं यह सब उसने स्वप्न में देखा। थोड़ी देरबाद लकड़हारेके साथी ने उसे जगाया। वहां उसका राजपद सब छूट गया और वह बड़ा दुखी हुआ वैसे ही स्वप्न के समान हमारे साथ सब पदार्थोंका सहयोग कुछ ही समय के लिए हुआ है। वह दिन अवश्य छूट जायगा और केवल दुख ही हमारे साथ रहेगा। सुख है दर्शन में ज्ञान में, और चरित्र में। समस्त तन-मन-धन का पूर्ण उपयोग करके यदि सम्यग्दर्शन करके हमारी दृष्टि अविकारी आत्म स्वभाव पर गई तो कर्म नो कर्म और सब विपदायें नष्ट हो गई। संसार में इससे उत्तम कोई वस्तु नहीं है। परपदार्थोंसे हटाकर उपयोग को निज स्वभाव में तपाकर स्वच्छ बना देना सत्य तप है बड़ों कि दया कराने की होती है बाह्य पर वे दृष्टि नहीं देते। साधु किसी रहा से जा रहे हैं। और कोई दुखी भिखारी उसे अन्न पानी आभाव में आकुल दिखाई पड़े तो साधु को दुखी के प्रति रोटी और पानी इसे मिल जाय ऐसा विकल्प न होगा पर वह उसे देखकर दुखी होगा कि देखो अहें यह स्वभाव की दृष्टि भूलकर परपदार्थों के अभाव में कितना दुखी है। ऐसा दया साधु

भिखारी पर करेगा जिस पर ध्यान दे तो भिखारीपन के सब कष्टों से छूटकर भिखारी सदा के लिए सब कष्टों से छूट सकता है और मुक्त हो सकता है। जिन मुक्त को हम पूजते हैं—उनके सदृश होने के भाव हमारी आत्मा में होना चाहिए जिन प्रभु की रज से ही अनेक दुख टल जाते हैं। यदि हम यही चाहते हैं तो उनके उपायों पर चल-कर हमें अपने जीवन को कृतार्थ करना चाहिए।

यह तप नामका आवश्यक कर्म गृहस्थों का चल रहा है। गृहस्थावस्था में प्रायः एक रोग बना लिया जाता है खर्च बढ़ाकर पूर्ति न होने की चिन्ता सो भैया सबसे बड़ा दुःख तृष्णा का है। तृष्णा पर विजय पाना गृहस्थ का मुख्य तप है। जो भी अपनी आय हो उसके कम से कम ८ भाग करे और जिसमें ६ भाग अपने अन्य खर्च के लिये रखे। २ भाग रोजके भोजनादि खर्च के लिये रखे। ६ भाग दान के लिये रखे। १ भाग जमा करता रहे, १ भाग परिवार के अन्य खर्च के लिये रखे। १ भाग समाज देश सम्बन्धीजन आदि खर्च के लिये रखे १ भाग तीर्थयात्रा साधुसमागम विद्वत्समागम ज्ञानसभायोजन के लिये रखे। आय कम हो तो भी इसी प्रमाण रखे संतोष पूर्वक ऐसा निर्वाह करे तो उसके यथासंभव साम्य परिणाम के कारण निर्जरा संवर सुनिश्चत है। अपनी आवश्यकताओं को घटा देना गृहस्थ का तप कर्म है।

ममत्व, मोह, तृष्णा और अंतकारमें अपने अमूल्य जीवन को बिताना हमारा कर्तव्य तो नहीं है। इसलिए हमें सम्यग्दर्शन के विषय भूत ध्रुव अखंड निज तत्त्व की दृष्टि प्राप्त करना चाहिए। अहिंसा से कर्ता भोक्ता और स्वामीपन का विकल्प नहीं रहता—विकल्प न होने से किसी को दुख करने का भाव नहीं होता और पदार्थ जैसा है वैसा ही ज्ञान में आता है और यही अहिंसा है। अहिंसा माता है वह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सब प्राणियों की रक्षा करती है। इसलिये अहिंसा जीवन में उतारना चाहिए जिस किसी द्रव्य से ये पर्यायें निकलती हैं। और वे जैसी हैं उनका जो मूल स्रोत है उस पर दृष्टि रखना अहिंसा है अहिंसा का पालन ही आत्मा की रक्षा है। अहिंसा ही तप है और तप ही सत्य है तप ही ब्रह्माचरण है तप ही शंकर है तपसे ही ज्ञान विष्णु होता।

भैया! अर्हदास नाम के एक सेठ थे। अष्टान्हिका के समय पुरवासियों को राजाज्ञा हुई कि सब जंगल में जाकर वसन्तोत्सव मनायें। राजाज्ञा सुनकर सेठ को चिन्ता हुई पर उन्होंने राजा से विनय की कि राजन्! आजकल हमारे व्रत हैं और हम निज मंदिर में रहेंगे। राजा ने स्वीकृति दे दी। राजा को रात में रानी से मिलने की इच्छा हुई पर मालियों के समझाने से वह शहर में घूमने चला गया और सेठ के मकान के पास पहुंचा वहीं एक चोर भी छिपा हुआ था। सेठ सेठानियों के साथ धर्म कथायें कह रहा था। पहिले सेठ ने सुनाई कि मुझे दर्शन कैसे प्राप्त हुआ क्योंकि सम्यग्दर्शन पैदा होने में कोई न कोई कारण घटनारूप हो जाया करता है। राजा की कहानी सुनकर सबने कहा हां सच है पर छोटी सेठानी बोली झूठ है। इसी प्रकार और की सेठानियों ने अपनी-२ कहानियां सुनाई जो कि तात्कालिक घटना की थी जैसे सेठ कथा की राजा आदि के वृतान्त से सम्बन्ध रखती थी। उन्हें सुनकर सब कहती हां सच है पर वही छोटी सेठानी कहे—नहीं झूठ है। राजा यह सब सुन रहा था और इसका रहस्य जानना चाहता था। प्रातः काल राजाने सबको बुलाया और छोटी सेठानी से पूछा क्यों सेठानीजी रात में जो कहानियां हुई वे सब सच हैं पर तुम उन्हें क्यों कहती थी कि झूठ है। यह क्या बात है? वह सब कपड़े उतार कर प्रायः साड़ी पहिने हुई जेवर वस्त्र फैंक कर चल पड़ी आर्यिका बनकर मानो अपनी गुफा से यह बताती जा

http://www.jainkosh.org

रही थी कि सब झूठ है यदि सच है तो यह है। वस्तव में मूर्च्छा के हटते ही सब शांति आजाती है। तप ही सत्य है तप से परे रहकर तो मात्र बातें ही बातें हैं, तप भी अन्तस्त हो ऐसा जानकर अपने-अपने सुख और शान्ति के लिये ज्ञान की प्राप्ति करना चाहिए जो शांति का मूल है। सब बाह्य पदार्थों की उपेक्षा करके सम्यग्ज्ञान के उपार्जन में लग जाना चाहिए। ज्ञान अहिंसा का जनक है और अहिंसा हमारी रक्षा करती है। संसार में कोई हमारी रक्षा नहीं कर सकता हमारी रक्षा करने वाली है एकमात्र अहिंसा।

अहिंसा परमो धर्मः यतो धर्मस्ततो जयः।

अध्यात्मयोगी पूज्य श्रीसंतसहजानंदजी वर्णी

का प्रवचन

लोग कैसे खुश रहें यह भाव निज अनर्थ का मूल है

बाह्य तप के तपते हुए यह दुर्भाव आसकता है परन्तु आत्म-तप दुर्भाव से अछूता ही है। कभी कभी यह भी अभिप्राय बन जाता है जबकि लोक में किसी कारण या वर्तमान कारण के बिना भी अपयश या अपवाद हो गया हो क्या अभिप्राय बन जाता कि ऐसा तप दिखावो कि सब अपयश धुल जावे। परन्तु भैया! ऐसे भाव से किये गये क्लेश से आत्मा का लाभ नहीं, हानि है। लोकापवाद भी कर्मों के क्षय का निमित्त है जो कर्म उदय में आते हैं वे झड़ने के लिये ही आते हैं वहां समता परिणाम हो स्वभाव दृष्टि का कार्य जारी रहे तो आत्मा की हानि नहीं लाभ ही है।

बड़े से बड़े महान पुरुषों का भी लोग लोकापवाद करने से न चूके। सती सीता को भी पुरुष दोष लगाये बिना न रहे और मर्यादा

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

"पुरुषोत्तम" राम की भी निन्दा लोगों के मुख से सहसा निकल पड़ी। एक धोबी की पत्नि ने सीता को कलंकित करते हुये पति से कहा जब सीता कई वर्षों तक रावण के घर में रही—फिर भी राम ने उसे अपने घर में स्थान दिया और यदि मैं थोड़े ही समय के लिये अन्य घर रह गई तो मुझे लाच्छन लगाने लगे—स्त्री ने कुछ मान पूर्वक कहा। एक संस्कृत में कहावत है "षटकर्णोभिछंतेमन्त्र:" अर्थात् किसी गुप्त वस्तु को दो पुरुषों के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा सुनले तो वह बात खुल जाती है सब में फैल जाती है। धोबी और उसकी पत्नि की बातचीत भी दूसरों ने सुनली और धीरे धीरे यह लोकापवाद जनता जनार्दन में उसी प्रकार फैल गया जैसे एक तेल की बिन्दु जल में फैल जाती है। लोकापवाद सुनकर रामको बहुत दुख हुआ और प्रजा की मूर्खता पर हंसी भी आई तथा पूर्वकृत कर्मों पर जिनके उदय से यह लौकापवाद सहना पड़ा पश्चाताप भी हुआ। राम को अपनी प्रिय पत्नि जीवन साथिनी आज्ञाकारिणी सीता पर सतीत्व का पूर्ण विश्वास था फिर भी लोकापवाद के कारण उन्होंने उसे त्यागना चाहा और एकान्त गहन जंगल में छोड़ने की सोची।

सीता गर्भिणी थी—लवकुश दो वीर बालकों की निधि वह अपने में रखी थी। एकान्त पाकर सीता ने राम से कहा! पतिदेव! मेरी हार्दिक भावना है कि चैत्यालों की बन्दना करु। राम ने अच्छा बहाना पाया सीता को जंगल में छोड़ने का और विश्वास भरी वाणी में बोले सीते! तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो। देखो भैया लोग खुश रहें इस भाव से कुछ मत करो न्याय जो हो सो करो। हां तो कृतान्त वक्र सेनापति को राजदरबार में, आज्ञा मिली उसे सीता को जंगल में छोड़ आने की, पर यह सब कुछ गुप्त रखा गया। सरल हृदया सीता को तो यही विदित था कि मैं चैत्यालयों की बन्दना के लिये

जा रही हूँ—बड़ी प्रसन्नता और हर्ष में वह रथ में बैठ गई। रथ आगे बढ़ चला—रास्ता अब पूर्ण हो चुका था और अब भयानक दुर्गम जंगल आगया। जंगल के मध्य ही तीव्र गति से चलता हुआ रथ सहसा रुक गया। सारथि ने नम्र शब्दों में निवेदन किया! राज-माता! अब उतर जाइये मुझे यही राजआज्ञा है कि आपको जंगल में छोड़ आऊं। सीता ने विशष कारण जानने की इच्छा प्रगट की पर सारथि विवशता प्रकट करता हुआ नीचा सिर करके रह गया, कुछ न बोल सका। सीता सबकुछ न जानकर भी सबकुछ जान गई।

सीता ने राम को कुछ सन्देश भेजा "जिस प्रकार अपने लोका-पवाद के भय से मुझे छोड़ दिया उसी प्रकार लोकापवाद के भय से जिनेन्द्रप्रणीत धर्म नहीं छोड़ देना।" यह मार्मिक सन्देश सीता ने राम को भेजा था। सन्देश लेकर सारथि चल दिया साश्रु पुन: अयोध्या को। सीता रोती तड़फती—विलाप करती रह गई। देखो—राम ने किया सब कुछ पर खुश सब कभी नहीं हो सकते, आज भी लोग कहते हैं कि राम ने बुरा किया।

आकाशमार्ग से एक विमान उड़ा जा रहा था। सीता के रोने की करुणध्वनि उसके कान तक पहुंची, विमान रुका और नीचे उतर आया। यह विमान था वज्रजंघ का। बहिन! तुम कौन हो? क्यों रोती हो? आदि प्रश्न वज्रजंघ ने पूछे। आश्रु उढेल सीता ने सब अपना परिचय उसे बताया और आपस परिचय होने से दोनों के सम्बन्धी होने का पता चल गया। वज्रजंघ सीता को अपने घर ले गया और सीता वहीं रहने लगी।

सीता का मार्मिक सन्देश सुनकर राम के हृदय नयन खुल गये सीता का रोना और विलाप करना—सुनकर सबको स्वयं रोना आगया और राम पश्चाताप करने लगे। विलाप करते हुये कहने लगे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हाय ! कहां कोमलांगी सीता और कहां सिंह, चीते, बाघ, रीछ सर्प आदि भयानक जीव जन्तुओं से व्याप्त कष्टकारिणि मार्ग वाली दुर्गम अटवी। क्या हाल होगा सीता का आदि········ ··············। यह अवस्था देखकर लक्ष्मणादि ने राम को समझाया तब और शान्त हुये सुख पूर्वक राज्य करने लगे। लोग खुश हम पर कैसे रहें इस बुद्धि में तप नहीं हो सकता। अथवा लोकापवादके भयसे अपनी न्याय रीतिको त्याग दे तो वहां भी तप नहीं हो सकता अपनी शान बराबर रखने के हेतु परिश्रम करे तो वह तप का पात्र नहीं हो सकता। गृहस्थ का सन्नमान सदाचार व संतोष से है, सदाचार संतोष को त्यागकर कुछ भी चेष्टा कर लो वहां शांति नहीं मिलेगी।

आजकल भी प्रायः ऐसे दृष्टान्त मिलते हैं कि लोग (लोकापवाद तो हम इसे नहीं कह सकते) थोड़े से कहने मात्र से ही वे धर्म छोड़ देते हैं। तुमने मन्दिर में हमसे ऐसा कहा लो आजसे हम मन्दिर ही नहीं जायेंगे। तुमने शास्त्र वांचते समय हमसे ऐसा कहा था लो आज से हम शास्त्र वांचना छोड़ देते हैं तब तो तुम कुछ न कह सकोगे हमसे। भैया ! हमें ऐसा नहीं करना चाहिये। कहा भी है "सन्तोषी-गुण रतन भण्डारी" तथा "सुखी रहे सन्तोषी प्राणी।" लोग तो सभी को दोष लगाते हैं जो दोषमात्र के दृष्टा हैं वे लोग मिथ्यादृष्टि ही होते हैं। निन्दा सुनकर प्रवृत्ति में बढ़ना या लोभ लाना यही तो अन्तस्तप से च्युत होना है।

एक बात को जब अनेक मनुष्य कहते हैं तो वे ज्योंकी त्यों बात नहीं कहते कुछ नमक मिर्च उसमें मिला ही देते है तो जो आप सुनते हो निन्दा की बात समझो बात इसके १००वां हिस्सा है अथवा नाममात्र एक सेठ के कपड़े धोबी के यहां धुलते थे। धोबी के एक गधा बच्चा हुआ और वह सवेरे मर गया। प्रातः सेठजी कपड़े लेने

http://www.jainkosh.org

धोबी के यहां गये तो धोबिन जोर-जोर से चिल्ला रही थी विलाप-कर रही थी कि अरे मैं तो लुट गई, मैं असहाय हो गई आदि···। सेठने पूछा आखिर क्या बात हो गई ? क्यों इतनी अधिक रो रही हैं विलखती धोबिन ने लड़खड़ाते शब्दों में उत्तर दिया क्या कहूं तुमसे अरे गन्धर्वसेन मर गये। धोबी ने गन्धर्वसेन के मरनेके कारण अपनी मूछें मुड़ाली सेठजी ने भी गन्धर्वसेन जैसे बड़े नाम धारी के शोक में अपनी मूछें मुड़ाली। सेठ से सिपाही ने पूछा सेठ जी ये मूछें आपने क्यों मुड़ाई। श्री गन्धर्वसेन जी मर गये हैं सेठ ने शोकाकुल वाणी में उत्तर दिया। सिपाही ने सोचा गन्धर्वसेन सोई राजपरिवार का होना चाहिए तभी से सेठ ने मूछें मुड़ाई—अतः सिपाही ने भी मूछें मुड़ाली इसी प्रकार हवलदार और बढ़ते-बढ़ते राजाके मन्त्रियों ने भी गधर्वसेनकी मृत्यु से दुखी होकर अपनी अपनी मूछें सफा करालीं। राजा के पूछने पर मन्त्रियों ने राजा को कहा कि श्री गन्धर्वसेन जी महाराज का देवलोक हो गया है इसी कारण हम सबने मूछें मुड़ाई हैं। राजा ने पूछा ये गन्धर्वसेन जी महाराज हैं कौन ! उत्तर में मंत्री बोले हमें तो पता नहीं हम से तो थानेदार ने कहा था। थानेदार को बुलाया गया उसने भी कहा हमें तो पता नहीं महाराज हमसे तो सिपाहीयों ने कहा था। मतलब यह कि समाचार की सत्यता कोई न बतला सका अन्त में सेठ और सेठ के वाद धोबी का नम्बर आया उसने कहा महाराज मेरे गधे के एक बच्चा हुआ था उसका नाम गन्धर्वसेन था और वह मर गया। मतलब यह हुआ कि गधे की मृत्यु के समाचार को लोगों ने कितना बढ़ाकर कहा किसी ने गन्धर्वसेन तो किसी ने श्री गन्धर्व सेन जी और फिर श्री गन्धर्वसेन जी महाराज तक उसका नाम नमक मिर्च लगने से प्रसिद्ध हो गया तो भैया ? ये लोग तो धज्जीका सर्प बनाया ही करते हैं तुम उन्हें कब तक रोकोगे ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इनके कहनेमें हमें नहीं आना चाहिये। जो हमारी निन्दा करें उसकी बात सुनना ही नहीं चाहिए। कोई स्नेही व्यक्ति भी हमारे बारे में कहे कि वह तुम्हारे सम्बन्ध में बुरा भला कह रहा था तो उसकी बात भी हमें सुनना नहीं चाहिए। हमें तो यही सोचना चाहिए कि यह संसार असार है। हमारी आत्मा का स्वभाव ध्रुव और निश्चल है। यदि कोई हमारा अपकार भी करें तो इसने अपकार किसका किया हमारी आत्मा का नहीं व इस पुद्गल का अपकार होता ही क्या है। आत्मा और शरीर का न कभी कोई संबंध रहा है और न है न रहेगा। हम उसे जो एक समझते हैं इसका वही कारण है कि भेद की ज्ञान की दृष्टि हमारे आत्मा में जगी ही नहीं है। न कोई उपकार कर सकता है और न अपकार।

काष्ठांगार का साला था उसका स्वभाव चुगली करने का था और लोगों में भी देखा जाता है कि जो चुगली करता है उसे भी आप जान लो भैया चुगली कितनी खराब है। उस धोबी के निमित्त से आखिर कितने अनर्थ महाराज रामचन्द्र जी के घर हुए। भैया हम अपनी दृष्टि में अपवादी न रहें। हित हमारा हमसे ही होगा।

हम लोगोंपर दृष्टि देंगे तो हम अपना काम कब करेंगे। हां जब तक बाह्य दृष्टि मिटाये भी नहीं मिटती तब तक लोकोपवादसे भी दूर रहे। परन्तु यहां से आगे बढ़कर हमें आपकी दृष्टि की दृढ़ता करना है यह कभी न भूले।

सब लोग मुझ से खुश रहें यह अंतरंग भावना उन्नति की बाधक है। कार्य उत्तम करे अपने विश्राम के लिये फिर कोई खुश हों तो उनकी मरजी।

सारांश यह कहीं लोकापवादसे दूर रहने का यत्न लाभकारी

है परन्तु सर्वत्र आत्मदृष्टि ही हितकारी है। अतः आत्मदृष्टि में यत्न करना चाहिये। ये सब पर्यायें अस्थिर हैं इन्हें अपने उपयोग में नहीं टिकने देना चाहिये अपनी दृष्टि निज ध्रुव ज्ञायक स्वभावपर रहना चाहिये जिससे परिणति सहज निर्मल होती रहे। इस उत्तम तप को गृहस्थी में भी रहकर बहुत कुछ अंशों में निभाया जा सकता है।

पापकी बात बहुत दिनों तक नहीं छिपती एक न एक दिन प्रकट हो ही जाती है। एक साधु जंगल में पंचाग्नि तप किया करता था। एक सेठ का लड़का वहां से निकला उसने उसे पकड़ लिया और मारने लगा। लड़के ने कहा साधु जी यह पाप छिपा नहीं रहेगा, निकल पड़ेगा जरुर एक न एक दिन। पानी रिमझिम बरष रहा था सुनसान जंगल में पानी के बबूले उठ रहे थे। साधु ने अभिमान से कहा क्या ये बबूले कह देंगे कि मैंने तुझे मारा है? लड़के ने मतको पुष्ट करते हुए कहा—हां ये बबूले पाप कह देंगे। साधु न माना उसने लड़के की हत्या कर ही डाली और उसे मार कर एक गड्ढे में गाड़ दिया। सेठके लड़के की मृत्यु के सम्बन्ध में हलचल मच गई—बहुत बहुत खोज की पर पता न चला। अन्त में साधु पर सन्देह किया गया एक खुफिया पुलिस ने साधु की शिष्यता ग्रहण की। पूर्ण उसकी सेवा सुश्रुषा वह करने लगा और उसका विश्वास पात्र हो गया। आठ माह व्यतीत हो गये और बरसात के रिमझिमाते दिन पुनः लौट आये। एक उठता बबूला पानी को देखकर साधु खिलखिला उठा। शिष्य ने अनुनय विनय की कि आपके हंसने का क्या कारण है। साधु ने मान से बताया मानो उसने कोई महान कार्य किया हो कहा—एक नादान लड़के को जब मैं मारने लगा तब वह बोला कि साधु पानी का बबूला तुम्हारे इस काम को कह देगा। शिष्य तो यही चाहता था। सुनकर छुट्टी ली कुछ दिन की और पुलिस में सब समाचार कह दिया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तथा कहा कि कल मैं वहीं आऊंगा साधु सहित तब हम दोनों को गिरफ्तार कर लेना और अगले दिन वही हुआ। तो भैया ! पाप बहुत समय तक नहीं छिपता। पानी के बबूले भी पाप के काम को कह देते हैं। अतः हमें गुप्त रूप से भी पाप नहीं करना चाहिए तथा कोई भी बुरे कार्य भी न करना चाहिए।

दूसरे की अच्छी बुरी बातें सुनकर क्षोभ न आना यही सावधानी है और यही है अपने को उन्नत बनाने का उपाय तथा शान्ति स्थापना एक जनकल्याण के हित का साधन एक मार्ग।

तपतो वस्तुतः निश्छल भाव में ही हो सकता है, निन्दा सुनने का कच्चो प्रशंसा सुनने का कच्चा गुप्त पाप करने वाला पुरुष इच्छा-निरोध का अल्प भी अधिकारी नहीं। जैसे निन्दा सुनने से क्षोभ आवे तो वह समाधि का पात्र नहीं। कल्याण आत्मा की वस्तु है। गृहस्थावस्था में भी कल्याणपन्थ चला जा सकता है। यह तप कर्तव्य की बात चल रही है इस कर्तव्य अधिकारी होने के लिये हमारा कर्तव्य हो कि हम यथाशक्ति पांचों पापों का त्याग करें निन्दा प्रशंसा में विषाद हर्ष न करें ऐसी कोई बात न विचारें जो लोगों को छिपाकर करने की प्रेरणा है। हम सदाचार से रहकर इच्छा निरोध तप को बढ़ावें।

जगत में कोई भी पदार्थ किसी जीव या किसी अन्य पदार्थ का हित या अहित नहीं कर सकता। पदार्थ का परिणमन स्वयं जो हो उस रूप ही होता है। इसी प्रकार जीव भी किसी पदार्थ या किसी जीव का कर्ता या सुख दुखका कर्ता होता नहीं है।

"होता स्वयं जगत परिणाम"
मैं जग का करता क्या काम"

यह हमें स्वकीय अनुभवों से भी ज्ञात है कि संसार के कोई

http://www.jainkosh.org

अन्य पदार्थ हमारा साथ नहीं देते यहां तक कि हमारा शरीर जिसकी आत्मा के साथ जल पयके सदृश मेल है वह भी अन्तकाल चैतन्य, चिदानन्द के साथ नहीं जीता।

आत्मा स्वतन्त्र अविनाशी है उसका सुख चाहना हो तो यथार्थ दृष्टिकी पहिले आवश्यकता है। जगतमें कौनसा पदार्थ हितरूप है जिसकी बुद्धि करें। समस्त इच्छाओंका त्याग श्रद्धा द्वारा करो और जो करना पड़े उसे अहित समझो। वास्तव में इच्छा ही अतप है दुःख है और इच्छा निरोध ही तप है। गृहस्थ का आवश्यक कर्तव्य है इच्छा-निरोध सहज ही है। इच्छावों को कम किये बिना सत्पथ का अनुसरण नहीं होता। पूज्यवर उमास्वामी जी ने भी यही कहा है कि इच्छा निरोधस्तपः इच्छानिरोधमें उत्तरोत्तर बढ़ना ही तो श्रावक की ११ प्रतिमायें हैं। सर्व अनुष्ठान भी इच्छा निरोध के अर्थ है। सामाधि भी इच्छानिरोध बिना नहीं बन सकती।

संसार के समस्त बाह्य पदार्थ आत्मा में आकुलता, बेचैनी एवं मोह-ममत्व उत्पन्न करने के निमित्त है। उनमें निराकुलता एवं शान्ति का लेशमात्र भी दृष्टिगत नहीं होता। यदि हमें निराकुलता एवं शान्ति की वाञ्छा है हमें शुद्ध, निष्कलंक, निर्विकार, परमात्मा का ध्यान स्मरण करना चाहिये एवं आत्मामें तल्लीनता प्राप्त करनी चाहिये। जैसे लौकिक व्यवहारमें अपने पैरों खड़ा पुरुष ही सुखी एवं सन्तोषी हो सकता है, पराश्रित पुरुषको तो स्वप्न में भी सुख, शान्ति के दर्शन नहीं होते। उसी प्रकार आत्मा को आत्मा में लीन करने से ही वास्तविक सुख, शान्तिका संगम होता हैं।

अब यहां प्रश्न उठता है कि संसार में जब कोई भी पदार्थ शरण स्वरूप नहीं है। फिर हम शरण किसकी जाय ? अपनी निर्मल एवं विशुद्ध परिणति की। निर्मलता एवं विशुद्धता तथा निर्विकारता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पाने को निम्नलिखित साधक प्रयोग में लाना चाहिए—

१. जो निर्मल हो, निस्कलंक हो, निर्विकार हो, शुद्ध हो एवं चिदानन्द चैतन्यमय हो उसका ध्यान, चितवन, एवं स्मरण करना चाहिए।

लौकिक व्यवहार में यदि हमें धनी होना है तो हम धनवानके कृत्यों एवं कार्यों तथा उसके द्वारा प्रयुक्त साधनों का प्रयोग एवं अनुकरण करते हैं, यदि हम विद्वान हैं तो हम विद्वानों द्वारा निर्देशित आज्ञायें या उसके द्वारा आचरित क्रियाओं का अनुसरण करते हैं। उसी प्रकार हमें यदि निर्मलता पानी है तो हमें निर्मल आत्माओं का चिन्तवन मनन आदि करना चाहिए। निर्मलता प्राप्त करने की यह सर्वप्रथम सीढ़ी है।

२. रागद्वेषादि विभावों से आत्मा में अशान्ति उत्पन्न होती है। बाह्यपदार्थों से रागद्वेष होने के ही कारण उनके संयोग एवं वियोग पर हमें दुःख सुख का अनुभव होता है। हमें अपने रागद्वेषादि भावों को त्याग करनेके लिये उनपर पश्चाताप करना चाहिए। यदि हम एकान्तस्थल में बैठकर अपनी वास्तविक स्थिति को समझेंगे तब हमें पूर्वकृत भावों पर पश्चाताप होगा एवं आनन्दाश्रुओं की उमड़ती हुई धारा प्रवाहित होने लगेगी जिससे आत्मा के समस्त मलीमस धुल जायेंगे।

३. आत्मा की वास्तविक अवस्था का ज्ञान रागद्वेषके भावों पर पश्चाताप करने से हो जाता है। जीव यह समझ जाता है कि जैसी शुद्ध एवं निर्लेप पर्याय सिद्ध भगवान की है वही पर्याय मुझ में भी निहित है वह प्रकट होती है सहज आचरण में। शुद्ध विकास का तिरस्कार हम ही ने परका भोक्ता अपने को मान मानकर स्वयं कर दिया है। अन्यथा सारे विकल्पों का श्रम न करके आराम से स्थित रहता तो आत्मा का अतुल सुख कहीं बाहर थोड़े ही है। हम पर

पदार्थ को हित अहित का कर्ता मानते हैं यह हमारी अज्ञानता है—हमें उसे दूर करना चाहिए। पर पदार्थ हमारा हितहित नहीं कर सकते सच पूछो तो परको अपनाना ही वास्तव में चोरी है, उसमें हानि ही है। एक चोर एक घोड़ा चुरा लाया। बाजार में उसने घोड़े का मूल्य आठ सौ रुपया नियत किया। लोगों को यह अधिक मूल्य स्वीकार हुआ और वे आगे बढ़ते गये। एक दूसरे पुरुष ने चोर से घोड़े का मूल्य पूछा। चोरने पूर्व आंकित मूल्य उसे बतलाया। युवकने कहा! घोड़ा तो वास्तवमें आठ सौ का मालूम पड़ता है। पर इसकी चाल तो देख लें चोरने कहा जरुर जरुर देखो युवक ने अपने हाथका मिट्टी का हुक्का चोरको थमा दिया और घोड़ा लेकर चलता बना। तब अन्य पुरुषों ने चोर से पूछा कहो तुम्हारा घोड़ा कितने में बिका! चोर ने उत्तर में कहा—जितने में लाया था उतने ही में चला गया। और लाभ में क्या मिला? तब कहा यह हुक्का मिला। उसी प्रकार बाह्य पदार्थ से हमारा न कोई सम्बन्ध रहा है और न रहेगा। इनके विकल्प में इनाम में केवल यही मिलेगा कि वह ऐसा कर्म कमावेगा कि आगे आगे क्लेश से ही भेंट हो इस संयोग का जीव से उसी प्रकार वियोग स्वतः हो जायगा जैसा घोड़ेका संयोग एवं वियोग चोर से हो गया। वे हमसे कुछ लेते देते नहीं है। वे मिथ्या हैं और हैं माया स्वरूप। हमें परपदार्थों से सर्वथा दूर एवं निर्लिप्त रहना चाहिए। किसी भी रागद्वेषादि रूप परिणति में प्रीति नहीं करना चाहिए। ये अपने में घुसे हुये सर्प हैं। सर्प से डसा जीव तो संभव है बच भी जाय पर कर्तृत्व बुद्धि के दोष से उत्पन्न रागद्वेष के वशीभूत हुआ जीव खतरे से खाली नहीं। हमें कर्तृत्व भोक्तृत्व बुद्धिका त्याग करना चाहिये।

४. समस्त अध्रुव ध्रुव विशेषों से अभेद्य निज चैतन्य स्वभाव की आराधना करना चाहिये। आत्मा ध्रुव है, अविनाशी है। ऐसी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

आत्मा का वास्तविक ज्ञान जीव को तभी हो पाता है जब वह राग-द्वेष से परे अनन्त एवं अपार ज्ञानमय आत्मामें गोते लगाता है। उस समय उसे ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। वह रागद्वेषको माया मोह को त्याग देता है और सुखी हो जाता है। फलत: सुख हमारी आत्मा में ही भरा है पर भ्रम वश हम उसे यत्रतत्र खोजते फिरते हैं। सुखान्वेषी जीवकी संसार बनमें वही अवस्था होती है जो अपनी नाभिमें निहित कस्तूरी को भूलकर जंगलमें भटकने वाले हरिण की। आत्म स्वभाव को भूलकर ही जीव दुखी होता है। आत्मस्वभाव को जानकर उसमें ही तपना तप है। आत्मस्वभाव के शोधक को वाह्य तप सरल हो जाते हैं। तप १२ होते हैं यथाशक्ति उन सबका गृहस्थ भी अभ्यास करता है। अनशन का पर्व या आवश्यक विधानों में प्रयोग करता है इसी तरह ऊनोदर का। वृत्तिपरिसंख्यान का अभ्यास इस तरह हो सकता है कि वह आहारत्याग का वृत्तिपरिसंख्यान तो करे नहीं किन्तु ऐसा सोचले कि अमुक बात न हो तो जो पहिले ४ चीज परोसी जाय उन्हें ही ले लूंगा अथवा शाक न लूंगा आदि। किन्तु यह कभी आगे पीछे जाकर न करे कि मैंने यह सोचा था। इस परित्याग का तो अभ्यास स्पष्ट ही है। विविक्तशाय्यासन के लिये २४ घंटे में आधा घंटा था और अधिक मौनपूर्वक एकान्त स्थान में बैठकर स्वाध्याय या ध्यान अथवा विश्राम से रहे। कायक्लेश तप तो उसके बहुत ऐसे होते ही रहते हैं अर्थात् परोपकार के कार्यों को करते हुए खेद न मानें। इसी प्रकार आभ्यन्तर तप भी करता है। दोषों का प्रायश्चित लेना, धर्मात्मावों का सभक्ति विनय करना, अन्य पुरुषों का भी यथायोग्य विनय करना, ग्लानिरहित एवं विवादरहित होकर सोत्साह वैयावृत्य करना, सेवा करना, स्वाध्याय करना, ध्यान करना आदि रूप से अन्तरङ्ग तपोंका भी अभ्यास करता है। यह सब वह

http://www.jainkosh.org

अपनी विशुद्धि के लिये करता है कोई द्रव्य किसी द्रव्य का कुछ नहीं करता इसका निष्कंप प्रत्यय सद्गृहस्थ को है। अज्ञानी जीव ही परके सम्बन्ध की बुद्धि करता है।

निरपराधी को यदि कोई ईर्ष्या, द्वेष, या मात्सर्य-वश दुख पहुंचाता है अत: उसे कष्टका अनुमान होता है। वह अन्य पुरुष से द्वेष करने लगता है। वह कहता है कि इसने मुझे मारा या दुख दिया। पर यदि इस पर गहराई से मनन किया जाय तब आपको यही विदित होगा कि मरने वाला किसी को दुख नहीं पहुंचाता वह तो अपने को पाप से कलंकित करता है। इस पीटे जाने या दुखी होने में अपने आपके पूर्वोपार्जित कर्म ही तो कारण है। जैसा करोगे वैसा भरोगे। बबूल के पेड़ बोने पर आपके हाथ में कांटे अवश्य कर चुभेंगे। बुरे कार्य करके सुख की आशा करना वैसे ही है जैसे कोई व्यक्ति बबूल बोकर मीठे आम खानेकी अभिलाषा प्रकट करें। आत्मा का स्वभाव सदा सुखी रहना है यदि वह दुखी होता है तो उसके निम्नलिखित कारण हैं—

(१) शरीर में अहंबुद्धि:— हम अनादि से शरीर एवं आत्मा को एक समझते चले आ रहे हैं। यह हमारा भ्रम है। शरीर एवं आत्मा का दूध एवं जल के सदृश मेल है पर दूध और जल दोनों की ही स्वतन्त्र सत्ता देखी जाती है। उसी प्रकार आत्माकी एवं शरीरकी स्वतन्त्र सत्ता है। पं० दौलतराम जी के शब्दों में हम इस प्रकार कह सकते हैं:—

"जल पय ज्यौं जिय चेतन मेला, पै भिन्न भिन्न नहिं भेला"

आत्मा एवं शरीर को स्वतंत्र सत्ता का स्पष्ट उदाहरण उस समय देखा जा सकता है जब आत्माराम पौद्गलिक शरीर को छोड़ कर चला जाता है। शरीर में अहं बुद्धि होने के कारण ही हम उसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

दिन भर सजाते रहते हैं। उस पर चन्दन एवं इत्र आदि नाना सुगन्धित वस्तुओं का लेप करते हैं परन्तु आत्मा पर इसका कोई असर या प्रभाव नहीं पड़ता। हां और पड़ता है तो कर्मकलंक, मलीनता, आकुलता मिलने का। (२) आत्मा के दुखित होने का दूसरा कारण है कि हम सोचते हैं परपदार्थ ने ऐसा किया है। ऐसी कल्पना करने से दुःख उत्पन्न होता है परपदार्थ में की गई यह कल्पना निरर्थक है। वह दुखी या सुखी नहीं करता।

लौकिक जनों की दृष्टि में हम निरपराध रहते हैं फिर भी उक्त कारणों के कारण हम दुखी रहते हैं। इस प्रकार का संयोग हमारे पूर्व उपार्जित कर्मों का फल होता है। हमने जैसा बोया है हमें वैसा ही काटना भी तो होगा। हम चने बोकर गेहूं नहीं पा सकते। यदि हमें सुखी होना है तो हमें दूसरों को दुःखी करनेका भाव न करना चाहिए।

(५) अपनी गलती स्वीकार करना महानता है। जितने भी महान पुरुष देखे गये उन्होंने यही किया कि उन्होंने अपनी गलती को कभी पुष्ट नहीं किया। उनका मार्ग सत्य एवं संयम का मार्ग था उन्होंने उसे कभी न छोड़ा। मनुष्य वही है जो अपनी गलती स्वीकार करे और साथ ही साथ वस्तु स्थिति की वास्तविकता को अपने हाथ से न जाने दे। महान पुरुष तो दूसरे को बुरा न लगे इस विचार से दूसरे की गलती को भी अपनी ही गलती स्वीकार करते हैं। वे "तुम नहीं समझे" कहने की अपेक्षा यह कहना अधिक उचित समझेंगे कि मैं तुम्हें नहीं समझा सका। पर अभिमानी और अधर्म पुरुष स्वकीय भूल स्वीकार न करेगा। जो मनुष्य जितना महान एवं सत्कुलीन होगा, वह उतना ही नम्र, विनयशील एवं सभ्य होगा पर जो ओछे न होंगे अभिमानी अहंकारी एवं अविनयी होंगे।

शरीर विनाशीक एवं पर है इसमें आत्माका अत्यन्ताभाव है, आत्मा में इसका अत्यन्ताभाव है, शरीर के कारण आत्मा सत् नहीं है आत्माके कारण शरीर के अणु सत् नहीं है। यदि कहा जा सकता है तो यह तो कहा जा सकता है आत्मा के निमित्त से शरीर की यह अवस्था है यदि आत्मा निकल जावे तो शरीर जलाने योग्य रह जाता है निस्तेज मृतक कहलाता है, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है कि शरीर के कारण आत्मा टिका हुआ है आत्मा अपने आप टिका है शरीर छोड़ कर जावेगा तो यह आत्मा पूर्ण बिना कुछ गमाये आगे रहेगा। यदि शरीर के निमित्त से कोई हालत भी मानी जावे तो वह है दुःख की हालत सो मुझे चाहिये नहीं, मुझ पर शरीर का कोई अहसान नहीं है, मुझे शरीर से कुछ नहीं चाहिये यह कैसी ही अवस्था को प्राप्त होओ होओ, मेरी कोई हानि वृद्धि नहीं है। इस प्रकार के यथार्थ बोधसे आत्मा आत्माकी ओरझुके तो वहां शरीरविषयक इच्छा ममता नही रहती फिर सारे अनर्थ समाप्त हो लेंगे। अर्थ की सिद्धि इस तप में है। यह सरल तप कठिन लगें और इच्छा का स्वच्छंद विहार सरल लगें तो इसे कुबुद्धि की लीला के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

यदि हमें सुखी रहना है तो गृहस्थ होकर भी हमारा लक्ष्य परमार्थ में ही होना चाहिए। जैसे कमल तालाब में रहता हुआ भी जल में डूब नहीं जाता उसी प्रकार गृहस्थ को भी गृहस्थी में रहते हुए भी उसमें रचना एवं रमना न चाहिए। दौलतरामजी ने कहा है—

"गेही पै गृह में न रुचै ज्यों जल तें भिन्न कमल है" (छहढाला)

छह खण्ड के राजा भरत चक्रवर्ती से एक पुरुष ने प्रश्न किया कि राजन्! आप अनेक प्रकार के भोग भोगते हैं, छह खण्ड के अधिपति है फिर भी आप इससे विरक्त हैं यह कैसे सम्भव है। चक्र-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

र्वति भरतने तेल से भरा हुआ कटोरा पुरुष के हाथों पर रखाया और सशस्त्र प्रहरियों को साथ में करते हुये कहा कि जाओ अन्तःपुर एवं सम्पूर्ण महल देख आवो परन्तु ध्यान रखना, तेल का एक भी बून्द नीचे न गिरे। वह महल देखने चल दिया और लौट आया पूछा भैया क्या देखा तुमने ! उत्तर मिला महाराज मेरी दृष्टि तो कटोरे पर थी सब देख लेने पर भी मैंने तो कुछ भी नहीं देख पाया। तब भरत चक्रवर्ति ने कहा बस भैया ऐसा ही मेरा हाल है मैं सब कुछ करता हूं पर मेरी दृष्टि सदा स्वरूप की ओर ही लगी रहती है। हमें अपना गृहस्थ जीवन सुधारने के लिए एवं अपना कल्याण करने के लिए बहुत ही उपयुक्त अवसर है। भैया अपने मन का सदुपयोग करलो।

जैसे एक पथिक राह में अनेक मनोरम दृश्य देखता है और कुछ देखने के लिए ठिठक भी जाता है पर उसे हमेशा अपनी मंजिल का ही ध्यान रहता है उसी प्रकार हमें गृहस्थ होकर भी परमार्थ में दृष्टि लगाना चाहिए। सम्यग्दृष्टि पुरुष तो सम्पदा एवं भोगों को काग भी वीट के समान गिनते हैं। उनकी क्रियायें भी निर्जरा की कारण होती हैं। अर्थात् नवीनबन्ध शिथिल हो जाते है।

हम दुखी एवं संक्लेशित स्वयं के परिणमन एवं स्वयं की भूल से होते है। हमारे सुखी एवं दुखी होने में संसार के कोई भी अन्य पदार्थ कारण नहीं हैं। हमें सदा सुखी होने का कर्तव्य करना चाहिए। उसका उपाय इच्छा निरोध है, इच्छानिरोधका उपाय तत्त्व ज्ञान है अतः तत्त्वज्ञानी होकर इच्छानिरोध तपका विशेष अभ्यास करना चाहिये। श्रद्धा में तो सद्गृहस्थ के एक भी इच्छा नहीं अब इसे चर्या रूप में परिणमित और करना है। भैया ! हमारा साथ देने वाला कोई नहीं साम्यभाव है सो उसकी पुष्टि इच्छानिरोध तप के द्वारा कर लेनी चाहिये।

ॐ शान्तिः

http://www.jainkosh.org

अध्यात्म योगी पूज्य श्री सहजानन्दजी वर्णी का प्रवचन

सन्ध्या २०-११-१९५४

दान

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥१॥

(रत्नकण्ड)

आध्यात्मिक भावनाओं से अपने हृदय एवं अपने आपको पुष्ट करने वाला पुरुष जब लौकिक व्यवहार में दूसरे पुरुषों के सम्पर्क में आता है तब उसका जो व्यवहार होता है वह सब दान भाव से ओत-प्रोत रहता है। आत्मा अपना कल्याण चाहता है इसकी पूर्ति के लिये ज्ञान दान की प्रवृत्ति करता है मुख्य दान यही है इससे भव भव के क्लेश समाप्त होकर अनंत काल को अनंत सुख प्रकट होता है। यह कार्य मनुष्य भव से ही संभव है। यद्यपि आज कल इस भरतक्षेत्र के उत्पन्न हुए मनुष्यों को मोक्ष साक्षात् नहीं है तब भी अन्य गतियों की अपेक्षा उत्कृष्ट निर्मल भाव यहां के मनुष्यों में हो सकते हैं सप्तमगुण-स्थान तो अभी भी सरल है। हां तो यह मनुष्य देह जब तक रहे जीव संयम को पाल सकता है इसी हेतु शरीरका असमय में न छूटना आवश्यक है। इस शरीर की रक्षा के लिये आहार दान की प्रवृत्ति करता और औषधि दान की भी। इनके अतिरिक्त मनुष्यों को जब तब सुविधा का अभाव हो या भय बना रहे तो भी सत्पथ में टिकना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कठिन है इसके लिये सदगृहस्थ अभयदान भी देता है। मनुष्य का वैभव बचन है अभयदान के कार्य बंचन बहुत किया करते हैं बचन के अतिरिक्त आवास देना सत्संग मिलाना ये सबअभय दान है। सभी दानों के करता हुआ सदगृस्थ सुखावह बचनों को ही बोलता है सदा उसका बचन व्यवहार हित-मित ही होता है। आध्यात्मिक भावनाओं, विचारों एवं आध्यात्मिक आत्मिक प्रवृति होने से पुरुष का मन निर्मल एवं पवित्र तथा विशुद्ध हो जाता है। उसे किसी से किसी वस्तु की वाञ्छा या इच्छा नहीं रहती, वह निस्पृही होता है जो निस्पृही है वह दूसरों से कटुबचन क्यों कहेगा, क्यों दूसरों को दुखित करेगा, क्यों अशुभ कर्मोंके बन्धन में फंसेगा। अतः निस्पृही व्यक्ति सर्वदा स्वपर के हित का ध्यान रखता हुआ कल्याण युक्त हित-मित बचन बोलेगा। सबसे बड़ा दान बचनों से हो जाता है। लोक में बचन बचन ही धन है। पुरुष का सम्मान, आदर एवं उसकी प्रतिष्ठा से ही होती है। निर्धन मनुष्य का भी अपना हितमित एवं स्वपर कल्याणकारी बचन ही विपुल वैभव एवं धन होता है। क्षण-क्षण में जुबान पलटने वाले,लखपतिकी अपेक्षा एक बचन बोलने वाला निर्धन व्यक्ति धनी एवं वैभवशाली है। हमें अपने बचन धन की रक्षा सर्वदा करते रहना चाहिए। आजकल के बड़े-बड़े व्यवहार बचन पर ही तो चल रहे हैं क्योंकि व्यापारियों ने अपने वचनों द्वारा पहिले से अन्य व्यापारियों का विश्वास प्राप्त कर लिया है। जब किसी भी व्यक्ति का प्रथम परिचय होता है तब उसके अच्छे और बुरे का परि-ज्ञान उसके वचनों से ही किया जाता है। उस समय व्यक्ति का न तो धन देखा जाता है और न ज्ञान, बचन मात्र से ही उसकी परीक्षा करली जाती यह तो है वचन बोलने वाले का लाभ। तथा जिसके प्रति हित मित प्रिय बचन बोला जाता है वह सुखी सत्पथगामी और

अपना सुधार कर लेने वाला बन जाता है घबड़ाहटकी खाईमें पड़े हुए का उद्धार बचनों द्वारा होता है। तीर्थंकर प्रभु का सबसे बड़ा दान उनकी दिव्यध्वनि द्वारा सहज होता है सारांश यह है कि दूसरों को हमें वचन कैसा देना चाहिये इसका विवेक अवश्य होना चाहिये। वचन दानसे ज्ञान और अभयका कारण तो बनता है यह ठीक है परंतु आहारऔषध के भी ये कारण बन जाते हैं अर्थात् सुवचन आत्मभाव दर्शकवचन को सुनकर क्षुधावेदना का अनुभव नहीं रहता और रोग की ओर उपयोग नहीं होता आत्मोपयोग होने से निरोगता भी शीघ्र आने लगती है वचन दान अनुपम चीज है।

जंगल में एक बुढ़िया रहा करती थी। एक दिन राजा और मन्त्री शिकार खेलने निकले और शिकार का पीछा करते हुये दोनों बिछुड़ गये। ढूढ़ता ढूढ़ता मन्त्री बुढ़िया के पास आया और बोला क्योंरी बुढ़िया ! यहां से कोई आदमी तो नहीं गया। बुढ़िया ने उत्तर दिया नहीं। राजा जी मन्त्री को ढूढ़ता हुआ वहां से गुजरा और बुढ़िया से नम्रता और बिनय पूर्वक बोला—बुढ़िया मां। कोई आदमी यहां से तो नहीं गया बुढ़िया ने उत्तर दिया हां गया है। मालूम पड़ता है वह तुम्हारा मन्त्री था और तुम राजा हो। जो पुरुष जितना ऊंचा और महान होता है वह उतने ही हितकारी कल्याण-प्रद और मीठे वचन बोलता है अतः यदि हमें लौकिक व्यवहार में आदर और सम्मान पाना एवं स्वपर का आत्मकल्याण करना है तथा अपने परलोक को सुधारना है तो हमें हित मित प्रिय वचन बोलना चाहिए तथा अपनी बाणी पर पूर्ण अनुशासन रखना चाहिए।

अपनी आत्माकी दृष्टिके लिए हमें सदा दूसरों से छल कपट रहित सरल, सरस, सुखकारी, हितकारी बचन व्यवहार में लाना चाहिए। कटु बचन पुरुषके हृदय में हार्दिक, मानसिक एवं शारीरिक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

व्यथा उत्पन्न करते हैं। अत: गृहस्थ के लिये व्यवहार में सदा वचनों पर अनुशासन रखना चाहिए। धर्म से च्युत मनुष्य को हम अपने हितकारी एवं स्नेह से परिपूरित बचनों द्वारा पुन: धर्म के पथ पर ला सकते हैं और इस प्रकार हम स्थितिकरण अंग का पालन एवं सम्पादन कर सकते हैं। किसी पुरुष की निन्दा एवं उसकी आलोचना करके उसे सुधारना कीचड़से कीचड़ धोना है. रक्तसे दूषित वस्त्रका रक्त से ही शुद्धिकरण नहीं होता है। कटुभाषी व्यक्ति लौकिक व्यवहारमें न तो आज तक सफल हुये हैं और न भविष्य में होंगे। लौकिक जगत में सम्पत्ति और सम्मान विपत्ति और आपदा सभी मात्र वचन से ही उत्पन्न होती है। अत: हमें अपने वचनों पर अनुशासन रखना चाहिए।

जिन व्यक्तिओं के वचन संयत एवं अनुशासित नहीं होते, जो विचारते कुछ और हैं, बोलते कुछ और हैं और करते कुछ और हैं उनका व्यवहार घृणित व्यवहार है और है वह निन्दनीय जो मनुष्य होगा वह कभी ऐसा नहीं करेगा। ऐसा व्यवहार करने वाला तो मनुष्य रूप में पशु ही होना चाहिए। कुछ मनुष्य मायाचार एवं छलकपट की बातें करते हैं निश्चय से उनकी आत्मा कलुषित होती है, उनका हृदय धर्महीन होता है। "विषकुम्भ पयो मुखम्" की उक्ति को ही चरितार्थ करते हैं। प्रिय-वचनों सहित अल्प भी दान करो तो बहुत सुखावह है। सरलता प्रिय धर्ममार्ग में शीघ्र लग जाते हैं। संसार में जीव का कोई भी शरण जीव नहीं है यदि कोई शरण है तो वह है धर्म। धर्माधिकारी सरल, निष्कपट, मायाचार रहित व्यक्ति हो हो सकता है। पशु भी विश्वास-घात नहीं करते। वे जो कुछ संकेत करते हैं वही करते हैं। उनके मन-वचन-कार्य में एक ही चीज समायी रहती है। वे शरणागत की

http://www.jainkosh.org

रक्षा करते हैं। विश्वास घात न करना भी अन्यदान की तरह श्रेष्ठ दान है।

जंगल में एक पुरुष सिंह के भय से एक पेड़ पर चढ़ गया। उसी पेड़ पर एक रीछ पहिले से ही बैठा हुआ था। अत: मनुष्य बीच में ही रह गया। इधर कुआं तो उधर खाई। मनुष्य चिन्तित हुआ पर रीछ ने कहा—पुरुष! डरो मत। तुम शरणागत हो मैं तुम्हारी रक्षा करुंगा। मनुष्य यह अश्वासन पाकर वृक्ष पर चढ़ कर यथा-स्थान बैठ गया। रात्रि हुई पुरुषको नींद आने लगी और रीछने उसकी रक्षाका भार गृहण कर लिया उसे सुला दिया। तब शेरने रीछ से कहा—अरे रीछ! यह पुरुष तुम्हें मारने वाला जानवर है—घातक है इसे नीचे गिरादो और इसे अपन दोनों भक्षण करलें। पर पशु रीछ ऐसा करनेके लिए तैयार नहीं हुआ और बोला मैंने इसकी रक्षाका भार लिया अत: मैं विश्वासघात न करुंगा। अब पुरुष उठ बैठा और रीछ सो गया। शेर ने पुरुष से कहा—रे पुरुष! मेरे जाने के बाद रीछ तुझे खा जायगा। अभी यह सो रहा है। तू इसे नीचे गिरादे और निश्चिन्त होजा। पुरुष को विचार अच्छा लगा और वह धक्का देने ही वाला था कि रीछ उठ बैठा और बोला—रे विश्वासघाती पुरुष! मैंने तेरी रक्षा की पर तू मुझे मरवानेको तत्पर हो गया। देखो भैया मनुष्यसे पशु भी बढ़कर होते हैं। शेरने रीछ से कहा कि मनुष्य की कृतज्ञता तो देखली है। अब भी इसे पटक दो तब रीछ बोला कि यदि मनुष्य दगाबाज होवे तो होओ परन्तु पशु से यह न होगा। सत्य हृदय बिना दानका मूल्य नहीं। मनुष्य ने सब कुछ पाया पर उसने अपनी इन्द्रियां, अपने मन एवं अपने बलका दुरुपयोग ही किया। मनुष्य जन्म बड़ा दुर्लभ है यदि हमने उसे पाकर वृथा गमा दिया तो समझो हमने काग उड़ाने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

के लिए माणिक को फेंक दिया, पाद प्रक्षालनके लिए हमने अमृत को नष्ट कर दिया और लकड़ी ढोने के लिये हमने हाथीका दुरुपयोग किया। इस नर जन्म को हमें रत्नत्रय की प्राप्ति में लगाना चाहिए इसी में हमारा कल्याण है। जो भी पाया है तन मन वचन धन इनका उपयोग स्वपर कल्याणमें करो। सच पूछो तो सबसे बड़ा दान तो सब का बिल्कुल त्याग कर देना है। उत्तम त्याग साधु के ही होता है।

जो वचन हितकारी हों और मिष्ठ भी हों ऐसे वचन मिलना असंभव नहीं है। महा कविने भी कहा है—

"............ हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः"

जो वचन सत्य तो है पर हितकारी नहीं हैं वह निन्दनीय है और वह सत्य होकर भी असत्य हैं। जो वचन मिष्ठ या वाह्य हितके ध्यान से कहा गया है पर सत्य नहीं है वह भी निन्दाका पात्र है। परमार्थमें हितका वचन सत्य ही होता है व सत्य भी वही है जो आत्महित विषयक हो। अतः वचन सत्य हो, हितकारी हो तथा मित भी होना चाहिए।

वचन वाण लोह वाण से भी तीक्षण होता है। लोह वाण के अनेक प्रहार सहे जा सकते हैं पर वचन वाणका एक भी प्रहार नहीं सहा जा सकता। कटुवचन के बारेमें किसी कवि ने कहा है—

"कटुक वचन मत बोलिये, कटुक वचन है तीर"
श्रवण द्वार ह्वै संचरै, सालै सकल शरीर ॥१॥"

लोह वाण तो शरीर के एक अंश में ही दुख देता है पर वचन वाण से तो समस्त शरीरमें, एवं मन व्यथा उत्पन्न होती है। कहा हुआ वचन, छोड़ा हुआ वाण, गई हुई आयु और बीता हुआ समय कभी लौटकर नहीं आता। अतः हमें वचनों पर अनुशासन रखना

चाहिए जिससे हमें बादमें पश्चाताप न करना पड़े या लौकिक निन्दा से खेद प्राप्त न हो। कटुवचन बोलने से अशुभ कर्मोंका आस्रव होता है, बंध होता है और हमें संसार में रुलना पड़ता है। अतः वचनोंकी हितमित प्रियता का पूरा ध्यान रखना चाहिये।

एक गरीब लकड़हारा जंगलमें लकड़ी काटा करता था और उन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाता था एक दिन एक शेर के पैर में कांटा चुभ गया और लकड़हारे के पास आकर कांटा निकालने की उसने प्रार्थना की। लकड़हारे ने कांटा निकाल दिया। शेर ने बहुत कृतज्ञता प्रकट करते हुये कहा कि जो लकड़ी तुम स्वयं अपने ऊपर लादते हो वह मुझपर लादकर घर ले जाया करो। लकड़हारेने ऐसा ही किया और वह प्रतिदिन लकड़ीके वजनका परिमाण बढ़ाता गया। कुछ दिनों में ही लकड़हारा धनी हो गया। समीप के निवासी ने पूछा भैया तुम इतने जल्दी धनी कैसे हो गये। तब लकड़हारे ने कहा कि एक गधा ऐसा हाथ लगा जिसकी वजहसे व्यापार चल उठा शेर ने यह सब सुन लिया अगले दिन जब लकड़हारा जंगल में लकड़ियों के लिए गया तब सिंहने आकर संकेत से कहा तुम मुझे कुल्हाड़ी से मार डालो पर लकड़हारा घबराया और ऐसा करने को तैयार न हुआ तब शेर ने उसे खाने की धमकी दी। विवश होकर लकड़हारे ने अपनी कुल्हाड़ी का वार शेर की गर्दन पर कर दिया। गर्दन पूर्ण कटी न थी तब शेर बोला लकड़हारे! मैंने तुम्हारी कुल्हाड़ी का आघात सहन कर लिया पर मुझ से तुम्हारे वचनों का आघात सहन न हुआ। अतः हमें अपने वचन इस प्रकार बोलना चाहिए जिससे किसी को दुःख न हो, कष्ट न हो।

संसारमें आजकल होने वाले भयानक एवं घोर युद्ध एकमात्र वचन के ही कारण हुये हैं। क्या महाभारत, क्या राम रावण का

Report any errors at vikasnd@gmail.com

युद्ध सभी के कारण प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से वचन ही हैं जीभ में वह शक्ति है जो तोप, तीर और तलवार में नहीं है। जीभ द्वारा कथित वचनों से पुरुष बिना सिरताज का राजा हो सकता है। लोग उसका राजा से कहीं अधिक आदर करेंगे। उसी जीभ से प्रयुक्त वचनों से वह अपनी अमूल्य जीवन लता को भी नष्ट कर सकते हैं कवि की कल्पना है कि एक बार जीभ और दांतों में लड़ाई हुई और दांत बोले—हम तो खानेको चबाते है और कष्ट उठाते हैं पर तू कुछ नहीं करती ? पड़ी पड़ी मिष्ठान्नादि का स्वाद लिया करती है। जीभ ने कहा मैं तुम सबकी रक्षा करती हूँ। यदि मैं चाहूं तो तुम ३२ को तुड़वा सकती हूं जीभ की यह युक्ति संगत बात सुनकर दांत बेचारे चुपचाप रह गये। अतः हमें अपनी जीभ को अनुशासन में रखना चाहिए। इसी में हमारा सुख और कल्याण निहित हैं।

देखो भैया आप सोचते होंगे कि दान के प्रकरण में वचन पर क्यों इतना अधिक जोर दिया जा रहा है सो मेरी समझसे बचनदान का भी बहुत माहात्म्य है चारों दोनों में से बहुत से दान वचन से ही संबन्ध रखते हैं और फिर दानदेकर भी वचन मिष्टहितकारी न बोला प्रत्युत कटु अहित बोल दिया तो वह दान ही नहीं रहता। जैसे आप ही सोचो किसी पुरुषको बहुत वहुत मिष्ट विविध व्यञ्जन युक्त आहार कराया हो और पश्चात् यह कह दिया जावे कि कहो जी ऐसा भोजन आपके बाप ने भी न खाया होगा तो आप ही विचारो वह कैसा अनुभव करता होगा क्या वह आदर सन्मान रहा अथवा दान रहा कुछ नहीं रहा इससे भी वढ़कर बुरा रहा। संयमी और उदार पुरुषसे वचन हित और मिष्ट निकलते हैं। असयमी व अनुदार पुरुष से अहित व कटु बचन निकलते हैं।

हम जितना मिष्ट और हितकारी वचन कह सके कहना

http://www.jainkosh.org

चाहिए वचन बो नेमें न तो हाथ से देना पड़ता है और न कुछ हमारे घर से ही जाता है अर्थात् निर्धन भी वचनदान कर सकता है। अतः वचनों की दरिद्रता करना उचित नहीं। किसी कविने भी कहा है:—

... . बचनों की दरिद्रता ॥

अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टि गृहस्थ लौकिक जगत में हित-मित वाणी व्यवहार में लाता है। वह इसका ध्यान रखता है कि मेरे वचनों से अन्य पुरुष को कष्ट न पहुंचे। वह अन्य की अपेक्षा स्वयं दुःख उठाना उचित समझेगा और दूसरों का दुख देना उसके लिये क्षोभ और लज्जा का काम होगा। स्वयं के दुखी होने पर वह अपनी आत्मा को अनेक प्रकार से समझायेगा। हे आत्मन् ! तुमने पूर्वभव में अवश्य बीज वोये होंगे। उनसे उत्पन्न वृक्ष के फल ही तो हैं ये बचन। तुम स्वयं अपने कार्यों पर दुखी होते हो। इस प्रकार के जो कटु शब्द तुमसे कहे गये हैं इसमें कहने वाले का कोई अपराध नहीं। वे तो पूर्वोपार्जित कार्यों के फल ही तो तुम्हें मिल रहे हैं। अन्तरात्मा सम्यग्ज्ञान के वचनों से परको कभी दुख नहीं पहुंच सकता। पर को कष्ट देकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ। एक अङ्ग के भी छिन्न होने पर जैसे हमारा शरीर व्याकुल एवं दुखी रहता उसी प्रकार हमारी प्रवृत्ति के निमित्त से जब तक दूसरा आदमी दुखी है तब तक हम किसी भी प्रकार सुखी नहीं रह सकते। बुद्धि पूर्वक कोई व्यवहार ऐसा न हो कि कोई दुख पावे।

हमारे प्रान्त यदि कुछ पहिले असभ्य नहीं तो अर्धसभ्य अवश्य थे। अब उसने अपने शैशव को सम्हाला और वह उन्नति पथ पर अग्रसर होते चले जा रहे हैं यह प्रसन्नता की बात है। फिर भी हम कहीं कहीं अब भी सभ्यता की हीनता देखते हैं। प्रणाम को अब बुरी और निन्दनीय परिपाटियां कहीं चल पड़ी हैं। यहां तक कि अब घूंसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लातें और जूतों सरीखे साधनों का प्रयोग कदाचित हो जाता है। असभ्यों के मिलन में इन कुरीतियों को भी हम हित-मित प्रिय वचनों से मिटा सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति हमें गालियां देता है, हमसे कटु शब्द कहता है फिर भी हमें "तो को फूल के फूल हैं वाको है त्रिसूल" के कथन का ध्यान रखते हुए उससे नम्रता से सभ्यता पूर्ण व्यवहार करना चाहिये इस प्रकार के हमारे व्यवहार को देखकर पत्थर से भी निर्झर सी वह निकलेगी मानो वह अपने कृत्यपर पश्चा-ताप कर रहा हो। सांसारिक दुख हमें हमारी ही भूलों से होते हैं अतः हमें भूल करने को भूल जाना चाहिए। हमें हितमित वचन बोलने की प्रतिज्ञा भी लेनी चाहिए। यदि हमें अपने कर्त्तव्य पालन का ध्यान न रहे तो उस पर हमें कठिन प्रायश्चित करना चाहिए जिससे वह कर्त्तव्य पालन की हमें याद दिलाता रहे।

इस प्रकार की हित-मित वाणी बोलने का प्रयास हमें अपने जीवन में कार्यान्वित कर लेना चाहिए। कटुभाषी व्यक्ति निगाह से गिर जाता है, लोग उसके सम्पर्क में नहीं आना चाहते, उसके पास नहीं बैठते, उसका आदर एवं सम्मान नहीं होता और समाज में उसका बहिष्कार सरीखा हो जाता है। उनसे बचने के लिये हमें सरल सरस मधुर हितकर स्वपर कल्याणकारी एवं मित वचन बोलना चाहिए। वचन पर अनुशासन रखने को जैन धर्म में भाषा समिति का नाम दिया है। इसके पालन किये बिना साधु साधु कहलाने का अधिकारी नहीं कहा जा सकता। गृहस्थ को भी अपने वचन अनु-शासित एवं संयत रखने चाहिए।

आज दान के प्रकरण में कह रहा हूं परन्तु बचन के सम्बन्ध में ज्यादह कहने में आगया उसका कारण है कि मेरी समझ में इस समय यह ज्यादह घर कर रही है दान के सम्वन्ध में कि यदि वचन

की हितमित प्रियता नहीं है तो दान भी नहीं है, दान होता है पर के अनुग्रह के लिये। जिन वचनों से पर का अनादर हो वहां दान का अनुग्रह नहीं पल सकता। साधु भी अनादर के वचन को समता से सहलेंगे यह है उनका परिषह विजय परन्तु अहारदान करने वाले के नवधा भक्ति न हो तो वे आहार कभी ग्रहण नहीं करते। शास्त्र भी बिना विनय के देने से नहीं लेते। दान होता ही हितमित प्रियवचन पूर्वक। वचनों की चार श्रेणियां बतलाई गई हैं:— १. वचन गुप्ति २. भाषा समिति ३. उत्तम सत्य ४. सत्य महाव्रत। चारों श्रेणियों में सत्य का उपदेश दिया गया है। फिर भी सबमें अन्तर है। पहिले पहल सत्य महाव्रत का आचरण करना चाहिए और अपने मन वचन काय को अनुशासित कर लेना चाहिए। उन्नति की अगली सीढ़ी है उत्तम सत्य और अग्रिम है भाषा समिति तथा अन्तिम हैं वचनगुप्ति।

सत्य महाव्रत में सदा सत्य बोलना चाहिए। सत्य चाहे आत्मा से सम्बन्ध रखता हो चाहे अन्य पदार्थसे। चाहे आप कम बोलें या अधिक पर होना चाहिये सत्य। उत्तम सत्य में आत्मा के सम्बन्ध में ही बोलना चाहिए अन्य किसी पर पदार्थ के बारे में बोलना निषिद्ध है आप व्यापार करते हैं, एक भाव पर ही कपड़ा देते हैं पर वह उत्तम सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि बोली सत्यता का आत्मा से सम्बन्ध नहीं है। भाषा समिति में आत्मा कल्याण सहित हित मित वचन बोलना चाहिए। इसमें हम पर पदार्थ के बारे में बात तो कर ही नहीं सकते साथ ही साथ अधिक भी नहीं बोल सकते। वचन गुप्ति में तो अपने वचन गुप्त ही रखने चाहिये।

यदि हम वचन सत्य बोलेंगे तो हमारी आत्मा निर्मल एवं विशुद्ध होने का पात्र होगी जिसके कारण हमारे लिए सांसारिक समस्त सम्पदायें तो प्राप्त होगी ही साथ हमारा परलोक भी उज्वल

Report any errors at vikasnd@gmail.com

हो जायेंगे। समस्त वैभव सत्यवादी के चरणों में लोटता है। कषाय के वशीभूत होने से हम सत्य से डिग जाते हैं। क्रोध आने पर हमारे हाथ पैर हिलने लगते हैं, ओष्ठ फड़कने लगते हैं और वचन आवालि भी अस्त व्यस्त रहती है। उस समय मनुष्य का विवेक नष्ट हो जाता है और उसके हिये की आंखें फूट जाती हैं। हम क्रोध दूसरों पर करते हैं पर हमें जिस क्रोध पर क्रोध वास्तव में करना चाहिए उस पर आज तक हमने क्रोध नहीं किया। यदि क्रोध पर एक बार क्रोध कर लिया जाय तो क्रोध से मुक्ति ही प्राप्त हो जाय। मान कषाय के आने पर पुरुष अपनी वास्तविकता को भूल जाता है। वह अपने सामने दूसरों को कुछ नहीं समझता। बड़े-बड़े ऋषि मुनियोंकी निन्दा करने, महान पुरुषों के अपमान करने पर उतर आता है। पर ऊंट को अपनी ऊंचाई का ज्ञान तब होता है जब वह पर्वत के पास से होकर जाता है। तब वह अपनी मूर्खता पर हंसता है। सदा यह अनुभव से देखा गया है कि मानी एवं घमण्डी का सिर सदा नीचा होता है इसके भी वचन सत्य हित के नहीं होते। माया कषायके सद्भाव में हमारी वाणी में वह ओज नहीं रहता जो सत्यता में होता है एवं लोभ कषाय होने से तेज नष्ट हो जाता है। अतः कषाय को कृश करके हमें ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वस्तु की स्वतन्त्रता जानकर परपरिणति के भाव से दूर होना और स्वभाव में स्थिर होना यह सर्वोत्कृष्ट दान है इसमें स्वका तो महोपकार है ही किन्तु शरीर अवस्था में ऐसे परिणत की मूर्ति देखकर अन्य भव भी अपने बल से निर्मल बनेंगे तथा पर परमात्मा के पूर्णस्वरूप स्मरणकर भी सत्पथगामी रहेंगे यह परका अनुग्रह हुआ। पहिले जब स्वभाव में स्थिर न रह सके तो व्यवहार में प्रवृत्ति होती है वहां प्राप्त तन मन धन बचन को धर्मपथ गामियों की सेवा में लगाता है साथ ही करुणा की प्रकृति

http://www.jainkosh.org

के कारण दीन दुःखियोंके क्लेशनिवारण में भी उचित व्यय करता है। दान देते हुए सर्वत्र हित मित प्रिय वचन बोलता है। दान के धर्मपात्र ३ प्रकार के हैं—१. उत्तम पात्र (मुनि), २. मध्यमपात्र (प्रतिमाधारी श्रावक), ३. जघन्यपात्र (अविरत सम्यग्दृष्टि)। गृहस्थ साधु संतों को नवधा भक्तिपूर्वक दातार के ७ गुणों से सहित होकर भक्ति से आहार-दान देता है, इतरदान भी भक्तिपूर्वक गुण सहित देता है। ८ भक्ति ये हैं:— १. प्रतिग्रह (द्वारपर खड़े होकर सनम्र आह्वान करना), २. उच्चैः स्थान (गृह में उच्च स्थान पर बिठाना), ३. पादोदक (चरण धोना), ४. पूजा (स्तुति करना), ५. नमस्कार करना, ६. मन, वचन, काय व ७. आहार को शुद्ध रखना व प्रकट करना। दाता के ७ गुण ये हैं—१. फल की वाञ्छा नहीं करता, २. क्षमा व सहनशीलता, ३. निष्कपटता-सरलता, ४. अन्य दातारों से ईर्ष्या मात्सर्य न रखना, ५. दुःख-विषाद नहीं करना, ६. हर्ष-प्रमोद रखना, ७. अहंकार नहीं करना।

कषायभाव से भिन्न निज चैतन्यस्वभाव का अनुभव होने पर यदि व्यवहार हो तो मंद कषायता आती ही है और तब उक्त सब व्यवहार सहज होने लगते। हितार्थी को ज्ञान का यत्न अवश्य करना चाहिये कषाय ज्ञान से नष्ट होती हैं और ज्ञानभेद विज्ञानसे प्राप्त होता है। आत्मा एवं शरीरकी वास्तविक स्थिति व इनकी भिन्नताको समझ लेने का नाम ही भेद विज्ञान है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति सब उपायों से हमें करना चाहिए। प्रतिदिन ज्ञानकी प्राप्ति को हमें समय अवश्य देना चाहिए।

जैसा हम करेंगे उसका फल भी हमें वैसा हो प्राप्त होगा। जो हम बोयेंगे वही काटेंगे। अतः यदि हमें सुखी होना है दूसरों को सुख

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देने के कार्य करना चाहिए। हम पुरुष को यदि मधुर शब्दों द्वारा सम्बोधित करेंगे तो वह भी हमें मधुर शब्दों का प्रतिदान करेगा और यदि हम अन्य को अपशब्द कहेंगे तो हमें उनकी ही प्राप्ति होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। पर्वत के पास जो कहेंगे पर्वत से उन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि होगी उसी प्रकार जो हम कहेंगे अन्य लोग भी हमसे वही कहेंगे।

एक मुनि जंगल में तपस्या करते थे। जब वे चर्या के लिये गये तब एक धोबी आकर उनकी शिलापर कपड़े धोने लगा। लौटनेपर मुनिराज ने कहा:—यह शिला हमारी है, हम इसपर ध्यान करेंगे। आप ध्यान और कहीं भी कर सकते हैं पर ऐसी शिला पास यहां वहां नहीं मिल सकती—उत्तर में धोबी बोला। दोनों अपनी बात पर अड गये। दोनों की कुश्ती भी प्रारम्भ हो गई। धोबी की लुँगी लड़ते लड़ते खुल गई। जब मुनि हारने लगे तब बोले क्या देवता धर्मात्मा की रक्षा नहीं करते। उत्तर मिला हम आश्चर्य में हैं कि किसको बचायें? दोनों दिगम्बर, एकसे कषायवान हैं। अतः जो नीच के साथ नीचता करता है वह नीच कहलाने लगता है। अतः सज्जनों को दुर्जनों का साथ छोड़ देना चाहिए।

वचन से ही राजपद, आदर, धन एवं हमारा परलोक सुधर सकता है अतः हमें वचन पर अनुशासन रखना चाहिए। हित मित प्रिय वचनालाप करके हम समता की शान्ति की योग्यता प्राप्त कर लेंगे।

संसार में सुख कहां है? जिस ओर दृष्टिपात करते हैं उधर दुःख और दुःखी ही दिखाई देते हैं। कोई धन न होने से दुखी है तो कोई धन होने पर भी स्वास्थ्य न होने के कारण दुखी है। कोई पुत्र के न होने से दुःखी है तो किसी के माता चल बसी है। तात्पर्य यह कि सभी दुखी हैं। इस दुख को दूर करने का उपाय है तो वह है

सम्यग्ज्ञान के विकासका उपाय करना उपदेश देना ज्ञानदान है। इस सम्यग्ज्ञान के अभाव में ही हम अन्य पदार्थों एवं अन्य पुरुषों को अपना समझते हैं, उनसे मोह और प्रेम करते हैं। यह भी निश्चित है कि जब तक जीव को सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तब तब वह दुखी रहेगा। तप और संयम शान्ति के उपाय हैं। ये उपाय बिना सम्यग्ज्ञान के नहीं हो सकते। किसी पदार्थ का अन्य किसी पदार्थ या किसी जीव से कोई सम्बन्ध नहीं है और न किसी जीव का अन्य किसी पदार्थ या जीव से सम्बन्ध है सब स्वतन्त्र सत्ताधारी हैं और वे स्वयं में पूर्ण हैं। उन्हें अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है। समस्त पदार्थ अपनी स्वकीय शक्तियों में तन्मय एवं रत हैं मैं न किसीका हूं और न संसारमें कोई मेरा है। मैं किसीका कर्ता धर्ता या भोक्ता भी नहीं हूं। मैं किसी को रञ्चमात्र भी सुख या दुख नहीं दे सकता। अन्य सांसारिक पदार्थ भी मेरे लिये सुख दुख के कारण नहीं हैं। इस प्रकार की भेद विज्ञान रूप बुद्धि प्राप्त कर लेना ही सम्यग्ज्ञान है। पर पदार्थों से भेदविज्ञान कर लेने और अपने वास्तविक स्वरूप को समझ लेने से सम्यग्ज्ञान होता है। यही शान्ति सुख, निराकुलता एवं संतोष का स्रोत है।

जीवकी अशान्तिके प्रमुख कारण है पर पदार्थों में कर्ता कर्म बुद्धि और भोक्ता भोग्य बुद्धि। जीव यह समझता है कि मकान मैंने बनाया मैंने लड़के को पढ़ाया इत्यादि। यदि वह गहराई से विचार करे और सोचे तब वह इसी निर्णयपर आयेगा कि अगर मिट्टी में घड़े रूप परिणमने की शक्ति विद्यमान न होवे तो क्या कोई उसका घड़ा बना सकता था? नहीं। उसी प्रकार यदि लड़के में स्वयं की बुद्धि न होती तो क्या वह उसे एक अक्षर भी समझा सकता था। जीव भ्रम से यह भी सोचता है कि मैं इन पदार्थों का भोक्ता हूं—ऐसा विचा-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

रना मिथ्याज्ञान है। जीव स्वकीय स्वरूप को भूल जाता है। वह पर पदार्थों से अपनापन जोड़ता है और कहता है:—

मैं सुखी दुखी मैं रंक राव, मेरे गृह धन गोधन प्रभाव।
मेरे सुततिय मैं, सबलदीन, बे रूप सुभग मूरख प्रवीन'।

परन्तु आत्मा इनमें से एक भी नहीं है उसकी तो पुकार है—

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम,
ज्ञाता दृष्टा आत्माराम ... आदि।

अपने आपको शुद्धनयरूपी नेत्र से अवलोकित करके स्वतंत्र सत्ता के अनुरूप ऐसा विचारना ही सम्यग्ज्ञान है और वहीं सुख की खान है, शान्ति एवं सुख का स्थान है।

आत्मा को भ्रम मिटे और स्वरूपकी पहिचान हो ऐसा उपदेश देना सबसे महान् दान है। जो वचन सदा को क्लेश मिटा दे उससे बढ़कर अन्य क्या हो सकता है। वीतराग महर्षियों ने अपने वचनों को ग्रन्थों में साकार बना दिया इससे देखो आज कितना महोपकार हो रहा है। यदि महर्षियों के वचन आज हमें न मिलते तो धर्ममार्ग भी हमें न मिलता और ऐसी अवस्था में मनुष्य होने का मतलब ही क्या रहता फिर तो पशु व नर में अन्तर ही न रहेगा।

गृहस्थीका काम करते करते इतना समय व्यतीत हो गया आयुपूर्ण प्राय: होनेको हो गई पर क्या हमने कुछ कमाया? नहीं कुछ नहीं हम जैसे थे वैसे ही रहे। हमने गृहस्थीमें फंसकर सबकुछ भुला दिया और अपनेको भी भूल गये। आत्माके अनन्तसुख रूप अनन्त ज्ञान रूप अनन्त दर्शनरूप निर्मल भावको न पहिचाना—वृथा ही समय नष्ट कर दिया। इस अविनाशी आत्माको हमने विनाशीक समझकर उसमें बाल-युवा और वृद्धत्वकी कल्पनाकी पर आत्मा नित्य है, निश्चित है, एक स्वरूप वाला है। न वह बाल है न युवा और न वृद्ध शरीरको ही

http://www.jainkosh.org

हम आत्मा समझ बैठे हैं और शरीरके मरनेपर हमने आत्माका अन्त समझ लिया। हमने सांसारिक धनको ही सबकुछ समझकर भेदविज्ञान पर कभी दृष्टिपात ही नहीं किया। इस प्रकार परपदार्थमें कर्तृत्व बुद्धि दुख और अशान्तिको देने वाली हैं। कर्ता कर्मका अर्थ है परिणमयता और परिणाम। पदार्थ जितना है और जितनेमें है वह उतना और उतनी स्वकीय सत्तामें ही परिणमता है। हम प्रकाश देखते हैं और कहते हैं दीपकने प्रकाश कर दिया। यह सुनकर आपत्ति हो सकती है कि यदि जहां पर प्रकाश है वहां के अणु परमाणु एवं स्कन्ध में यदि प्रकाशमान होनेकी शक्ति न होती तो क्या दीपक उन्हें प्रकाशित कर सकता था अर्थात् नहीं कर सकता था दीपक द्वारा अन्य पदार्थोंको प्रकाशित समझना हमारी भूल है क्योंकि पदार्थोंमें स्वयं प्रकाशित होनेकी शक्ति होनेपर वे प्रकाशित होते हैं। हम विपत्ति करके हम अन्य पदार्थोंकी सत्ताके प्रति अज्ञान प्रगट करते हैं। चौकी पर होने वाली छायाको हाथकी छाया मानना, बिजलीका प्रकाश अग्निकी उष्णता अन्यत्र मानना इस प्रकारके अन्य उदाहरण हैं।

ऐसा भ्रम क्यों और कैसे होता है? संसारमें केवल द्रव्य ही द्रव्य है अन्य कुछ नहीं। मोक्षशास्त्रके कर्ता आचार्य उमास्वामीने द्रव्यका लक्षण इस प्रकार किया है "सद् द्रव्य लक्षणं" अर्थात् सत् ही द्रव्यका लक्षण है और सत् क्या है? "उत्पादव्यय और ध्रौव्यसे युक्त सत्" अर्थात सत् उसे कहते हैं जो उत्पाद व्यय और ध्रौव्यसे युक्त हो। उत्पादका अर्थ है उत्पन्न होना और व्ययका अर्थ है नष्ट होना जो नित्य रहता है उसे ध्रौव्य कहते हैं। अर्थात् जो उत्पन्न हो नष्ट हो (पर्याय बदले) और स्थिर रहे उसे द्रव्य कहते हैं। जैसे:—एक सोने की गोल है। उसे मिटाकर हमने उसकी एक चूड़ी बनाली इस उदाहरणसे यह स्पष्ट है कि चूड़ीका उत्पाद हुआ, गोलका व्यय और

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सोना ध्रौव्य रूपमें स्थित है। अतः सोना द्रष्टान्तमें द्रव्य है। द्रव्यमें गुण और पर्याय पाये जाते हैं। सूत्रमें भी कहा है:—

"गुण पर्याय वद्द्रव्यं" इत्यादि। पर्याय परिणमनको कहते हैं। सदा द्रव्यमें परिणमन होता रहता है। पर्याय विनाशीक, नश्वर एवं क्षणस्थायी होती हैं। द्रव्य, जिसकी पर्याय है, पर्यायोंका पिण्डरूप भाग वह गुण द्रव्यकी शक्ति है। द्रव्यमें जितने परिणमन होंगे उतनी शक्तियां होंगी ये शक्तियां ही गुण है द्रव्यकी पर्याय विनाशी है पर द्रव्य अविनाशी है। द्रव्य जितनेमें हैं उतनेमें ही उसका परिणमन होता है। द्रव्यके जितने प्रदेश हैं उतने प्रदेशोंमें ही पर्यायें रहती हैं। द्रव्यसे बाहर गुण और पर्याय नहीं जाते हैं।

ये पदार्थ प्रकाशित हैं। क्या यह प्रकाश बिजलीका है या नहीं बिजलीका स्वरूप क्या है? बिजली कितनी है? जितनी बिजली है उतना उसका प्रकाश है और जितना प्रकाश है उतनी बिजली है। बिजलीका प्रकाश बिजली तक ही सीमित है। उसमें परपदार्थोंको प्रकाशित करनेकी शक्ति नहीं निमित्त दृष्टिसे प्रकाशक है। बल्वमें जितना तार है उतनी ही बिजली है। उस तारके बाहर बिजलीका प्रकाश नहीं है। पदार्थ धट पटादिमें प्रकाशित होनेकी शक्ति है वे बिजलीका निमित्त पाकर चमक उठते हैं। दीपक उतना ही है जितनी उसकी लौ है और जितनी लौ है उतना ही है उसका प्रकाश है। दीपक की चीज प्रकाश दीपकसे अलग नहीं हो सकती वह प्रकाश दीपक तक ही सीमित है। दीपकको छोड़कर उसके रूप रस, गन्ध, स्पर्श आदि कुछ भी आगे नहीं बढ़ सकते। दीपकके बिना रूप रसादि का और रूप रसादिके बिना दीपकका कोई अस्तित्व ही सिद्ध नहीं हो सकता। हाथ की छाया हाथ तक ही सीमित है वह चौकी आदि पर नहीं पड़ सकती। यदि चौकी पर पड़ने वाली छाया हाथ की है

तो उसे हाथके प्रदेशोंमें ही होना चाहिए। अतः यह स्पष्ट है कि चौकी के अणु—परिमाणु—ही छाया रूप परिणमित हो गये हैं वह छाया हाथकी नहीं अपितु चौकीकी ही है। हां परमाणुओंके छाया रूप बदलनेमें हाथ निमित्त कारण हुआ। छाया उसकी है जिसमें छाया है और प्रकाश भी उसीका है जिसमें प्रकाश है। घरके ऊपरके छेदसे आने वाली प्रकाशके मध्य प्रकाश नहीं होता। छोटे छोटे अणु जब उनके बीच आजाते हैं तब वे स्वयं प्रकाशमान हो जाते हैं। यदि वास्तवमें उसके बीच प्रकाश है तो परमाणुओंके न उड़नेपर भी प्रकाशित होना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है। सामने बैठे हुए श्रोताओंके मुखों पर उजाला आया नहीं है किन्तु उनके मुख स्वयं उजले हैं। दीपक का प्रकाश के डण्डे एवं चौकी पर एक साथ और एकसा पड़ रहा है पर इसमें क्या कारण है कि दोनों में निमित्त की समता होने पर भी उनके प्रकाश में विशिष्टता है। यदि इन दोनों पर पड़ने वाला दीपक का ही प्रकाश है तो दोनों की प्रभा एक सा ही होना चाहिए थी। अतः इससे स्पष्ट है वे स्वयं अपने में विशिष्टता रखते हैं। इसी के कारण उनमें एकसा निमित्त होने पर भी उनके प्रकाशमें न्यूनाधिकता पाई जाती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि यह प्रकाश दीपक का नहीं है और छाया हाथ की नहीं है। प्रकाश उसका है जिसमें पाया जाता है छाया भी उसीकी है जिसमें पायी जाती है।

वस्तु स्वरूपके ग्रन्थ समयसार प्रवचनसार आदि अनेक महर्षि प्रणीत अब भी उपलब्ध हैं। वस्तुवोंका यथार्थ बोध हो जाय तो सकल क्लेश विलीन हो ही जाते इससे बढ़कर बताइये और क्या चाहिये। ज्ञानदानसे बढ़कर अन्य कुछ दान ही नहीं। बड़े पुरुषोंने भी जो सम्राट थे ऋषियोंका उपदेश सुनकर विरक्त हो अपने कर्मोंका क्षय किया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

अनंत सुखी हुए। कहो कोई किसीको राज्य भी दे तो क्या वह दान है नहीं। कोई ऐसा प्रतिबोध कराये कि समस्त विकल्प दुःख दूर हो सुधारस बह जाय परमानंद मिल जाये वह दान है। भैया शरीरसे तुम जुदे हो उस जुदे की खबर लो फिर आगे दुःख न पाना पड़े, संसारसे शीघ्र छुटकारा हो ऐसा उद्यम करो, समागम तो केवल छल है अपनी सुध लो।

जब हम स्वयं अपनी सत्ता नहीं समझते हैं तब हम दूसरोंका कल्याण ही क्या करेंगे। हमें यह न समझना चाहिए कि हम दूसरेका कुछ करते हैं। हम इसे पालते हैं, हम इसे पढ़ाते हैं आदि की कल्पना करना और स्वयमें कर्तृत्व बुद्धि मानना हमारी महान अज्ञानता है। हम जो कुछ क्रियायें करते है अपनी कषायके वशीभूत होकर उसकी शान्तिके लिए ही तो करते हैं तुमने बच्चेको पढ़ाया नहीं अपितु बच्चे को पढ़ानेकी जो तुम्हारे हृदयमें इच्छा या कषाय उत्पन्न हुई उसकी शान्ति या शमनके लिए तुमने अपना भाव किया। ऐसी अवस्थामें हमें यह हो विचारना चाहिए कि हमारे भाव इस जीवकी सेवा करनेमें निमित्तमात्र हुए हैं। इस प्रकार दूसरेकी सेवा करके यह हमें मानना चाहिए कि चलो जितना ऋण कम होता जाय उतना ही ठीक है। यह सेवा रूप ऋण तो उपार्जित भावनुसार चुकाना ही चुकाना हम जैनधर्म की रक्षा करते हैं यह कहना भी अज्ञानता ही है क्योंकि था हृदयमें उत्पन्न जिन पूजनादि कार्योंकी इच्छाके शमनके हेतु ही तुम जिन पूजनाआदि करते हो। बाप अपने बेटेको खिलाता है, उसे ऊपर उछालता है इसका भार बापको बेटेपर न रखना चाहिए। वास्तव में बाप बेटेको अपनी कषाय शान्तिके हेतु ही तो खिलाता है। जब कठोर और पैनी बापकी मूछें शिशुके कोमल कपोलोंमें चुभती है और वह रोने लगता है, उस समय भी बाप कषायकी शान्तिके लिए चुम्बन

http://www.jainkosh.org

लेता ही जाता है। अतः यह कषाय शान्तिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भावोंका निमित्त पाकर ही हम या आप कुछ करते हैं। सभी पदार्थ अपनेमें ही परिणमन करते हैं। पदार्थके परिणमनका तो जिनेन्द्रदेव भी नहीं बदल सकते हैं। उन्होंने सब देखा है। स्वेच्छासे उन्होंने नहीं परिणमाया पर जैसा परिणमेगा वैसा उन्होंने देखा है। जिसने जगतके पदार्थोंसे स्वयंको भिन्न न जान पाया उसने धर्मको ही नहीं जाना। अतः ऐसा व्यक्ति धर्मका पात्र भी नहीं हो सकता। जब तक मोह है तब तक स्वतन्त्र सत्ताका ज्ञान नहीं तब तक धर्माधिकारी नही। क्योंकि मोहकी रहितता ही धर्म है।

दीपकने अन्य पदार्थोंको प्रकाशित करने की जबरदस्ती नहीं की थी और न वह जगह जगह पदार्थोंको प्रकाशित करनेके लिए ही जाता है। अन्य पदार्थसे अन्य पदार्थका कुछ भी नहीं होता और न स्वयं ही दूसरे रूप परिणम सकता है। दीपक तो अपने कारण से प्रकाशित हो रहा, पदार्थ वहां प्रकाश्य है। ऐसा होकर भी पदार्थों के कारण दीपक में विकार नहीं आता एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में अंश मात्र भी विक्रिय नहीं कर सकता। आत्मा अपने प्रदेशों से न हटकर स्वयं में ही लीन रहता है। वह अन्य पदार्थों को नहीं जानता। आत्मा शरीराकार है, फिर भी देह रूप नहीं है। जितना छोटा या बड़ा उसे शरीर मिलता है आत्मा उतनी हो छोटी या बड़ी हो जाती है फिर भी आत्मा का विस्तार आत्मा से है। जैसे चींटी में भी एक ही आत्मा है और हाथी की विशाल देह में वैसी ही आत्मा है। यह तो व्यवहार हुआ। पर निश्चयसे आत्मा न छोटी है न बड़ी, उसका न रूप है न रस और न गंध है न स्पर्श। वह निरूपी, अमूर्तिक एवं विशुद्ध है। हम आपको नहीं जानते ओर न आप हमें। जानने करने का व्यवहार तो शरीर के आश्रय तक ही सीमित है। आत्मा स्वयं

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को ही जानती है उसका अन्य पदार्थों या अन्य आत्माओंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। हमारे सामने एक बड़ा दर्पण है। हमारे पीछे दो तीन चालाक लड़के हाथ-पैर हिलाते हैं। हम उन्हें नहीं देखेंगे नहीं जानेंगे पर हम उनकी करामात जानेंगे। उसी प्रकार आत्माका परिणमन ज्ञेयाकार रूप होता है। संसार में कुछ है आत्मा उसे परका निमित्त पाकर ज्ञेयाकार रूप जानता है जैसे दर्पणका निमित्त पाकर लड़कों के कार्यों का ज्ञान होता है। हम जानते हैं यह उपचार है। जब हम जानते ही नहीं तब हम करेंगे क्या? आप अपनेको छोड़कर किसी को नहीं जानते आप स्वयं ही स्वयके स्वामी है अन्य संसार के एक कण के भी आप स्वामी नहीं है। आत्मा स्वयं एक अखंड सत् है। उसका जो परिणमन है वही पूर्ण द्रव्यों में है।

आपके पैर में एक कांटा लगा। वह आपके सर्वाङ्ग में दुःख पहुंचाएगा, एक अङ्ग में नहीं। अतः द्रव्य सर्व प्रदेशोंमें परिणमन करता है—किसी एक अंश में नहीं। दुःख एक भाग में होता है यह हमारा भ्रम है। निमित्त से वास्तविकता का पता नहीं पड़ता इसी कारण दुख एक जगह मालूम पड़ता है। प्रत्येक आत्मा अपना कर्ता, अपना भोक्ता, अपना ज्ञाता, अपना ध्याता एवं अपना अपना स्वामी है दूसरों का नहीं। हमारी स्वतन्त्र सत्ता अलग है अन्य पदार्थकी अलग ऐसा समझना चाहिए। प्रत्येक आत्मा अपने अपने भावों में परिणमता है।

एक देहात का लड़का कालेज में बी. ए. कक्षा में पढ़ता था। एक दिन उसका बाप उसे कुछ आवश्यक वस्तुयें देने गया। दूसरे लड़कों ने उससे पूछा:—ये तुम्हारे कौन हैं? लड़के ने अपनी शान बखारनेके विचार से कहा ये हमारा कारिन्दा है। पिताको यह बहुत

बुरा लगा और वह लड़के से घृणा करने लगा। पर भैया! देखो वह उसका नौकर नहीं तो और कौन है? उसी की सेवा में लगा रहता था। इसमें बुरा माननेकी क्या बात थी। पिता ने बेटे का क्या किया अरे अपनी कषाय ही तो शान्त की। हम जो कुछ करते रहते हैं अपनी कषाय की शान्ति के हेतु ही करते हैं।

एक आदमी क्रोधमें आकर गालियां बकता है। तो उसने दूसरां का क्या किया? दुकानमें बैठे-बैठे आपने परपदार्थोंका क्या किया? आपको क्या कोई शान्ति इससे मिली? अरे शान्ति तो सम्यग्ज्ञानमें ही है। बच्चा जब तक स्वतन्त्र रहता है आनन्दमें रहता है ज्यों ही उसकी शादी हुई कि वह अशान्ति के फन्दे में फंस जाता है। जहां अपनापन है, प्रेम है वहीं दुख है, अशान्ति है। जब शरीर तक अपना नहीं है फिर अन्य सांसारिक पदार्थों एवं गृहस्थी को अपना समझना अज्ञानता एवं खेद की बात है। सुखी होने का उपाय सम्यग्ज्ञान है। जहां हमने पर वस्तुओंसे सम्बन्ध स्थापित किया वही दुख हुआ। सुख स्वतन्त्रता में ही प्राप्त होता है। यदि सुखी होना है तो परसे कर्तृत्व बुद्धिका त्याग करो, आत्मा में बुद्धि लगाओ यही सुख का उपाय है। धन और वैभव कोई बड़ी बात नहीं है सम्यग्ज्ञान एवं विवेक ही बड़ी वस्तु है। ज्ञान को छोड़कर अन्य पदार्थ सभी आपत्ति और दुख के कारण हैं।

त्याग के विनाभवसागर पार उतरना कठिन तो है ही असम्भव भी है। सकल पदार्थोंका अंतरग व बहिरंग दोनों रीतिसे त्यागकर देना सर्वोत्कृष्ट दान है। बड़े-बड़े महापुरुष हो गये हैं उन्होंने क्या किया? यही त्याग और क्या? पाण्डवों ने राजपाटके लिये बड़े-बड़े युद्ध किये उन्होंने भी अन्तमें सब छोड़ दिया था। बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने भी सब जगत जंजाल को छोड़ दिया था। तीर्थंकरोंने भी यही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

किया था और हमें भी यही करना चाहिये। एक साधु था। उसे नदी के उस पार जाना था। मल्लाह से कहा—भैया! मुझे उस पार पहुँचा दें। ईश्वर तेरा कल्यान करेगा। बाबा जी! दो आने टिकट है, पैसे दो और बैठो, पार उतार दूंगा ऐसा मल्लाह बोला। बाबा जी के पास पैसे तो थे नहीं अतः वे आसन जमाकर वहीं ध्यानमें बैठ गये। इतने में एक सेठ आया और बोला:—बाबा जी! कैसे बैढे हो। पार उतरना है उत्तर मिला। सेठ साधु बाबा को नाव में बैठा-कर और चार आने किराया देकर पार उतार ले गया। सेठ उसपर साधुसे बोला—महाराज तुम तो कहते थे त्याग से संसार पार उतर सकते हैं। यहां तो नदी भी पार नहीं की जा सकी।

बाबा ने तर्क पूर्ण उत्तर दिया। सेठजी आप गलत कहते हैं जब आपने चार आने का त्याग किया तभी तो पार उतर पाये। यदि वे पैसे आप पास ही में रखे रहते तो क्या वह आपको पार उतार देता। सेठ वास्तविकता पर आगया।

वास्तवमें शान्ति और सुख त्यागमें है और त्यागके, बिना सम्यग्ज्ञान हो नहीं सकता अतः हमें सम्यग्ज्ञानकी आराधना और उपासंना करना चाहिए जिससे हमें शान्ति सुख और निराकुलता मिले। इसके अर्थ वस्तु स्वातन्त्र समझना आवश्यक है प्रत्येक कार्यों को करते हुए भी स्वातन्त्रय दृष्टि नहीं भूल जाना चाहिये। दान करते हुए यदि यह श्रद्धा हो गई कि मैंने दान किया तो वहां मिथ्यात्व ही हाथ लगा। आप किसी वस्तुका त्याग नहीं कर सकते क्योंकि ग्रहण भी नहीं किया था। मात्र वितृष्ण भाव बनाना ही दान है वस्तुतः। अन्यथा दान भी कषायका साधक बनने से आत्माके तो अकल्याण का ही कारण हुआ। जिसे देकर अज्ञानी यह भाव करे कि मैंने अमुक

http://www.jainkosh.org

चीज दी तो देखो वहां जितने पदार्थ हैं उतने ही अलग अलग उन पदार्थोंके कार्य हैं। वस्तु अपने परिणमन से क्षेत्रान्तरित हुई, आपतो भावके कर्ता हो सो स्वतन्त्र स्वरूपकी दृष्टि रखो तो सब स्वयं कार्य बनता रहेगा।

वचनों पर विजय भी विवेकी ही कर सकता है। वचन विजयी पुरुष दान देने का भी पात्र है, क्योंकि किसी भी प्रकार का दान देता जावे और कुवचन कहता रहे तो वह दान भी भला नहीं है। दान का सम्बन्ध परिणाम से है, बाह्य वस्तुओं से नहीं और परिणाम का सूचक वचन है। हां तो अध्यात्मवेत्ता सुमानव जब धर्मात्माओं के संग में आता है तो यदि उदारता के साथ उसकी नित्य क्रिया भी धर्मात्माओं की सेवा करती हुई रहती है। स्वयं आहार करने से पहिले निरारम्भ तथा अन्य व्रतियों के आहार कराने की भावना प्रतीक्षा व उद्यम करता है, उन्हें भोजन कराकर स्वयं पीछे भोजन करता है किसी दिन अन्य व्रतिजन न मिलें तो अपने पड़ोसी बन्धु को ही आग्रह करके आहार करा कर संतोष पाता है। आत्मा का कर्तव्य है कि स्वभाव स्थिति का यत्न करे जिससे ये सब भवबन्ध छूट जायें। इस यत्नमें जो सर्वशक्ति से लग रहे हैं ऐसे साधु सन्तों की सेवा करना गृहस्थका मुख्य कर्त्तव्य है क्योंकि गृहस्थ भी तो उसी मार्ग का तीव्र इच्छुक है तब उनमें अनुराग विना आये नहीं रहता। अनु-राग तो प्रायः सभीको होता है अब जो जितने दर्जे की कषाय में (मंदकषाय के) है वह उसके अनुरूप सेवा करेगा। आहारदानमें सभी दान आजाते हैं देखो साधु संतों को सभक्ति आहार कराने वाला साधु के ज्ञान साधन और अभय में कारण है क्षुधा भी रोग है उसके शमन से औषध का निमित्त बनता है। गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य दान है वैसे तो वह दान के कर्तव्य को निभाता हुआ अपने स्वभावदृष्टि

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

को कभी नहीं छोड़ना चाहता है। दूसरा दान ज्ञान दान है ज्ञानदान की महिमा अवर्णनीय है जिनके वचनों को निमित्त पाकर जीव निज-स्वभाव को पहिचान जाय अपना सर्वक्लेश का मूल ही मिटा दे इससे चढ़कर अन्य कोई उपकार है ही नहीं। ज्ञान आत्मा का सर्वस्व है उसे जो पाले उससे बढ़कर कोई वैभवशाली नहीं। ज्ञानकी महिमा का ही सब ग्रन्थों में गान है। इसके प्रचार के लिये गृहस्थ जो भी शक्ति रखता है उस शक्तिके जुटानेमें कमी नहीं करता। वैसे तो योगिराज ही ज्ञानदान अमोघ करते हैं। गृहस्थ भी पाठशालायें खुला-वाकर साहित्य शास्त्र वितरण कर विद्यार्थियों की वृत्ति स्थिर कर ज्ञानियों का बहुमान कर सभायें कर और भी नाना प्रकार के कार्य करके ज्ञानदान का कर्तव्य करता है स्वयं भी विद्या प्रचार करता है। ज्ञान समान न आन जगत में सुख का कारण। यह परमामृत जन्म जरामृतु रोगनिवारन। औषधि दान भी अनुपमदान है—जगत में साधारणतया सभी प्राणी रोग से आकुल हो क्लेश करते हैं और कुछ तो धर्मात्माजनों को भी रोग आत्मसाधना में बाधक निमित्त बन जाते हैं। औषधदान देनेवाला अपना कितना उच्च शुभ उपयोग बना लेता है और रोगियों के रोग को दूर करने का निमित्त बनकर सुखा-वत बनता है। ऐसा यह कृपालु गृहस्थ अथवा धर्मात्मा का अन्य सेवक गृहस्थ प्राशुक औषधियों का ही उपयोग करता है कराता है। अभयदान तो प्राय: प्रति समय करता है। अनाकुलता व धर्मसाधन के उपाय जुटा देना भी अभयदान है। दूसरोंके प्राणों को बचा देना भी अभयदान है। देखो पद्मपुराण में आया है कि चक्रवर्ती की पुत्रीने निर्जन बन में ३ हजार वर्ष समतापूर्वक तप करके जब अन्तमें आजन्म १००-१०० हाथ से ज्यादह दूर न जाने का नियम कर लिया था उस समय एक अजगर ने उसे डसा पुत्री का पता लगने पर जब वह बन

में गया तब उसने इस भयंकर अवस्था में देखा तो उसने अजगर के टुकड़े करना चाहे उस वक्त पुत्री ने मना किया और अजगर को प्राण-दान दिलाया जिसके फल से स्वर्ग में देवी होकर मनुष्य भव में विशल्या के रूप में आई, तपस्या का व प्राणदान का इतना प्रभाव था कि विशल्याके नहाये हुए जलको जिस रोगीपर छीटा जाय डाला जाय वह निरोग हो जाता था। सारांश यह है कि विशुद्ध भावों से गृहस्थ को इन चारों दानों के कर्तव्य में रहना चाहिये। देखो भैया श्लोक में सबसे पहिले देवपूजा में लिखा है व अन्त में दान लिखा है इससे यह प्रसिद्ध हुआ कि इन षटकर्मों में भी बहुत ही प्रधान ये २ कर्तव्य है देवपूजा और दान करना सभीको चाहिये। ये षट्कर्म रत्न-त्रयकी साधना में भी बाह्य निमित्त हैं। जिस क्रिया के करने से रत्न-त्रयकी साधना का लक्ष्य न बने वह व्यवहार-उपचार धर्म भी नहीं है। देव पूजा व दान से श्रद्धा को सहयोग है, स्वाध्याय से ज्ञान को सहयोग है गुरुपास्ति संयम तप से चारित्र को सहयोग है। श्रावक को ये षट्कर्म प्रतिदिन करना चाहिये। अपने कर्तव्यपर चलते रहें और निजस्वरूप के सत्य लक्ष्य को कभी न भूलें तो उत्तरोत्तर आन्तरिक उन्नति होती ही रहेगी।

ॐ शान्तिः

मुद्रक : जमना प्रिंटिंग प्रेस, ४२५, न्यू भगवत पुरा, मेरठ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परमात्म आरती

ॐ जय जय अविकारी ।

जय जय अविकारी, ॐ जय जय अविकारी ।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी ॥टेक॥ ॐ
काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी ।
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी ॥ १ ॥ ॐ
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव सन्तति टारी ।
तुम भूलत भव भटकत, सहत विपति भारी ॥ २ ॥ ॐ
परसम्बंध बंध दुख कारण, करत अहित भारी ।
परमब्रह्मका दर्शन, चहुं गति दुखहारी ॥ ३ ॥ ॐ
ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी ।
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भण्डारी ॥ ४ ॥ ॐ
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शांतिचारी ।
टलें टलें सब पातक, परबल बलधारी ॥ ५ ॥ ॐ

Version 1